लेखक महोदय का

पूरा सेट

हमसे मँगाइये

मूल्य—लगभग ५०) रुपये

विस्तृत सूचीपत्र मुफ़्त मँगायें।

'साहित्य-मण्डल-माला' की तेईसवीं पुस्तक—

अमर अभिलाषा

(मौलिक उपन्यास)
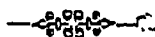
लेखक

श्री० चतुरसेन शास्त्री
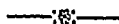
प्रकाशक

साहित्य-मण्डल,

दिल्ली

मूल्य ३) रुपया

प्रकाशक—
ऋषभचरण जैन,
मालिक—साहित्य-मण्डल,
बाजार सीताराम, दिल्ली।

सितम्बर, १९३३

प्रथम वार

मुद्रक—
रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस,
बावड़ी बाज़ार,
दिल्ली।

प्रकाशक के शब्द

'अमर अभिलाषा' शास्त्रीजी की बहुत पुरानी चीज़ है। इसे उन्होंने उस समय लिखा था, जब समाज की कुरीतियाँ उनके व्यक्तित्व से टक्कर खा रही थीं, जब उनकी नसों में यौवन का उच्छृङ्खल रक्त चक्कर काट रहा था, जब उनका दुनियाँदारी का अनुभव नया था, और दुनियाँ के लोगों की ऐसी विभीषिकामयी मूर्त्तियाँ उनके समक्ष नहीं आई थीं, जिनका अनुभव वे निकट-भूत में करते रहे हैं।

इसीलिये यह चीज़ अधिक सुन्दर, अधिक स्वाभाविक और अधिक सुरुचिवर्द्धक बन गई; इसीलिये इसका वर्णन् अधिक प्रभावशाली है; इसीलिये इसकी व्यञ्जना अधिक वेधक है; और इसीलिये हिन्दी के पाठक-समुदाय ने इस पुस्तक का अप्रत्याशित आदर किया है।

यह पुस्तक आद्यन्त 'चित्रपट' में छपी है। इसके छपते-ही-छपते 'चित्रपट' के सैकड़ों पाठकों ने तक़ाज़े-पर-तक़ाज़े

भेजने आरम्भ कर दिये, कि इसे तुरन्त पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाय। इसीलिये 'चित्रपट' में पूरी छपने से पूर्व-ही हमें इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करना पड़ा। पुस्तक तैयार होने के प्रायः तीन सप्ताह पूर्व हमने इस पुस्तक का विज्ञापन 'चित्रपट' में आरम्भ कर दिया था, और इस अल्प-काल में-ही इसके प्रायः चार-सौ ऑर्डर और एक हज़ार के लगभग जिज्ञासा-पत्र (Enquiries) प्राप्त हुए। स्त्री-समाज में इस पुस्तक का अधिक आदर हुआ। 'चित्रपट' में छपते-छपते हमारे पास अनेक ऐसी महिलाओं के पत्र आये, जो प्रति सप्ताह उसे अपने परिचित स्त्री-मण्डल में पढ़कर सुनाया करती थीं। अपनी इन कृपालु पाठिकाओं के प्रति कृतज्ञ होते हुए, हम इस पुस्तक की सफलता पर गर्व का अनुभव करते हैं।

पुस्तक काफ़ी पहले लिखी जाने पर भी लेखक-महोदय की सब से ताज़ी रचना है। इस ताज़गी का अनुभव आप उसके एक-एक पन्ने पर कर पायेंगे। इसका कारण यह है, कि छपने के पूर्व लेखक-महोदय ने ध्यानपूर्वक समस्त पाण्डु-लिपि का पुनर्पाठ और संशोधन किया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने कुछ अंश घटाये-बढ़ाये भी हैं। हमारी समझ में, इस परिश्रम के पश्चात् पुस्तक सर्वथा निर्दोष और प्रशंसनीय बन गई है।

हिन्दू-समाज के शरीर में आज अनेक घृणित रोग-कुरीतियों का निवास है। विधवा-तत्व तो आज हमारी समाज की सब से भयङ्कर समस्या बनी हुई है। हिन्दुओं की नालायकी और विधवा-तत्व के अनर्थकारी विश्लेषण ने आज समाज के एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग को बेकाम कर दिया है। हमारे समाज की गन्दी पाक-स्थली में आज इस कुरीति ने मवाद बनकर ऐसा भयङ्कर अनर्थ उत्पन्न कर दिया है, जिससे आज हम एक सार्वदेशिक अशान्ति और पतन का अनुभव कर रहे हैं।

आज हिन्दू-समाज में करोड़ों विधवायें हैं। इन असंख्य मूर्तियों की हा-हाकार के परिणाम से कोई समझदार आदमी अनभिज्ञ नहीं। इन सब के दुर्भाग्य का भिन्न-भिन्न कारण है, और इनके पतन या विकास का साधन भी भिन्न-भिन्न है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक-महोदय ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर ऐसी ही कुछ भाग्य-हीना बालिकाओं के चित्र एकत्रित किये हैं। यहाँ आपको भगवती का विवशतापूर्ण अधःपतन भी मिलेगा, और कुमुद के सतीत्व-तेज का दर्शन भी होगा। बसन्ती के रोमाञ्चकारी जीवन का चित्र भी आप इन्हीं पृष्ठों में देख पायेंगे, और सुशीला तथा मालती का

घटनापूर्ण चरित्र-चित्रण भी एक ही जगह आपको दिखाई पड़ेगा। दूसरी ओर राजा साहब, गोविन्दसहाय और रामनाथ-जैसे नर-राक्षसों की तस्वीर भी आपकी आँखों के आगे दौड़ जावेगी, और प्रकाश और श्यामाबाबू-जैसे आदर्श त्यागी और कर्मनिष्ठ मित्रों का उदाहरण भी आपके मन में आलोड़न करने के लिये विद्यमान है।

यही तो उपन्यास की ख़ूबी है! उपन्यास वास्तव में दुनियाँ का चित्र है—और दुनियाँ में भिन्न-भिन्न तरह के रङ्ग-बिरङ्गे प्राणियों का समूह एकत्रित है। दुनियाँ के सहन-शील वातावरण में अब्दुलरशीद और डॉ० अन्सारी समान रूप से साँस लेते हैं; इस दुनियाँ में फाँसी देनेवाला चाण्डाल और योगिराज अरविन्द एक ही वृक्ष के नीचे निर्द्वन्द्व बैठ सकते हैं; इस दुनियाँ में मुर्दे की हड्डी खानेवाला कुत्ता और ठाकुर-जी की पुण्य-मूर्ति एक नदी के जल में स्नान कर सकते हैं। इसी ढँग का वर्णन-चित्रण करनेवाला उपन्यास हमारी समझ में अपने नाम को सार्थक करता है।

'अमर अभिलाषा' इस गुण से सम्पन्न है।

हिन्दी में आज दस-पाँच अच्छे सामाजिक उपन्यास दिखाई देते हैं। 'सेवा-सदन', 'विदा', 'माँ', 'भिखारिणी',

'अपराधी', 'कुण्डली-चक्र', 'निर्मला', 'हृदय की परख'—आदि ऐसे कुछ उपन्यासों के नाम हैं। उक्त सभी उपन्यास हमारी समझ में, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक साहित्य में अपनी गणना कराने के अधिकारी हैं। हमारा विश्वास है, कि 'अमर अभिलाषा' भी निश्चित रूप से ऐसी ही एक वस्तु है।

ऊपर जिन पुस्तकों का नाम लिखा गया है, हिन्दी का औसत-पाठक उनसे और उनके निर्माताओं से प्रायः परिचित हैं। हिन्दी-संसार ने उक्त लेखकों के प्रति आवश्यकता से अधिक कृतज्ञता-प्रकाश किया है, इस बात से भी कोई आदमी असहमत नहीं होगा। पर हमें भय है, कि 'अमर अभिलाषा' के लेखक-महोदय श्री० चतुरसेनजी शास्त्री को न-केवल हिन्दी-साहित्य के कर्णधारों से उचित धन्यवाद प्राप्त नहीं हुआ, अपितु उनके साथ असहनीय अनाचार हुआ है। हिन्दी की अर्द्धान्ध दुनियाँ की नज़र में शास्त्रीजी ने 'मारवाड़ी-अंक' और 'व्यभिचार' का प्रणयन करके दो अक्षम्य पाप किये हैं। इन्हीं पापों के आधार पर भोले पठित-समाज की आँखों में धूल झोंकनेवाले कुछ नक़ली नेताओं ने शास्त्रीजी को दुनियाँ की आँखों में निन्द्य और बहिष्कार-योग्य ठहराने की चेष्टा की है! ऐसे लोगों

ने अपने कृत्रिम व्यक्तित्व और पाखण्ड-पूर्ण वेश की आड़ में शास्त्रीजी के साथ ऐसा अन्याय किया है, जो किसी भी भले आदमी की दृष्टि में क्षन्तव्य नहीं हो सकता !

हमारे लिये यह बड़े शर्म की बात है ! शास्त्रीजी की दोनों विवादास्पद रचनाओं की विकालत करने की न हमारी रुचि है, और न सामर्थ्य । परन्तु यह हमारा कितना भयंकर पतन है, कि एक-दो वस्तु के लोक-रुचि-विरुद्ध होने के कारण ही हम अपने साहित्य के एक महान् कलाकार का तिरस्कार करें ! जिस व्यक्ति के हृदय में सामाजिक क्रान्ति की आग धधक रही है, जो अपने सामने हिन्दू-राष्ट्र के एक सर्वथा नूतन-निर्माण का चित्र देखता है, जिसकी लेखनी में रक्त रोक देने-वाली तेज़ी मौजूद है—यह कितने दुर्भाग्य की बात है, कि कुछ पेशेवर आन्दोलकों की घात में आकर हम उसकी बात तक सुनने से इन्कार कर देते हैं !

× × × ×

हमें अत्यन्त निकट से शास्त्रीजी का अध्ययन करने का अवसर मिला है । भारत के बहुत-से 'बड़े आदमियों' का दर्शन-लाभ भी हमें मिला है । हम शास्त्रीजी की अनेक वैयक्तिक और सैद्धान्तिक दुर्बलताओं से परिचित हैं । अनेक विषयों

पर शास्त्रीजी से हमारा घोर मत-भेद है। उनके 'मारवाड़ी-अङ्क' की अनेक बातें हमें मूर्खास्पद जान पड़ीं। परन्तु यह सब होते हुए भी हम उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, उनकी मौलिक सूझ, उनकी भाषा के ओज़, उनकी मस्ती-भरी वाक्य-रचना और उनकी लेखनी की धमक पर दृष्टि-विपर्यय नहीं कर सकते। साथ ही अन्य बड़े आदमियों की निर्बलताओं से तुलना करने पर हमें शास्त्रीजी में ऐसे किसी अलौकिक भय की बात दिखाई न पड़ी। उनके इन्हीं गुणों के कारण हम उनकी स्तुति करते हैं, और उनके समस्त विरोधियों से हम विनीत प्रार्थना करेंगे, कि वे एक बार निष्पक्ष होकर शास्त्रीजी की मेधा का अनुभव करें, और उन्हें उनके योग्य सम्मान प्रदान करें।

× × × ×

'अमर अभिलाषा' सर्वथा मौलिक है। सिर्फ़ एक परिच्छेद में अँग्रेज़ी के एक उपन्यास की सूक्ष्म-सी छाप पड़ी है। इसे वे स्वीकार करते हैं।

विनीत,

ऋषभचरण जैन

अमर अभिलाषा

बीच में बालिका भयभीत नेत्रों से खड़ी देख रही थी। गृहिणी ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया। वह कटे वृक्ष की भांति धरती पर आ गिरी। पास ही एक पत्थर पड़ा था। उसे उठा कर गृहिणी ने उसके हाथ में दे मारा ?

(पृष्ठ संख्या १८)

पहला परिच्छेद

—:०:—

छोटा-सा गाँव, रात का सन्नाटा, ग्रीष्म की रात, मच्छर और पिस्सुओं ने लोगों को रात-भर सोने नहीं दिया था। गर्मी भी कम न थी। हवा बन्द थी। अब टूटती-रात उन्हें कुछ झपकी आई थी, कि एक हृदयवेधी चीत्कार से उनकी नींद टूट गई। चौपाल पर जो दो-चार व्यक्ति सो रहे थे, वे उठकर बैठ गए। एक ने कहा—"मालूम होता है, रमाकान्त का लड़का चल बसा! ग़ज़ब होगया, पहाड़ टूट पड़ा! आसार तो कल ही से अच्छे न थे। रमाकान्त अब न जीएगा। चचा, तुम क्या अभी सो ही रहे हो?" दूसरे व्यक्ति ने करवट बदली, और फिर उठकर बैठ गया। उसने कहा—"आज सोना मिला कहाँ? चलो, फिर उसके घर चलें—हमसे तो देखा भी नहीं जायगा। अभी तो ब्याह का कँगना भी नहीं खुला—ईश्वर की मर्ज़ी है।"

सभी उठ खड़े हुए। और भी दो-चार व्यक्ति घरों से निकल आए। इस बीच में कई स्वर क्रन्दन कर रहे थे। लोगों ने देखा,

घर की स्त्रियाँ पछाड़ खा-खाकर चीख़ रही हैं, रमाकान्त धरती में पड़ा, आँखें फाड़-फाड़कर आगन्तुकों को देख रहा है। मालूम होता था, अभी इसके प्राण निकल जावेंगे। लड़के की माता बेहोश धरती पर पड़ी थी, कुछ स्त्रियाँ उस पर पानी के छींटे दे रहीं थीं। सात वर्ष की निरीह बालिका, अब विधवा, पत्थर की मूर्ति की भाँति चुपचाप दीवार से चिपकी खड़ी थी, वह कुछ समझ रही थी, कुछ नहीं। वह न रो रही थी, न उसकी आँखों में आँसू थे। भाई-भावज 'हाय-हाय' कर रहे थे—यह सब देखकर उसका कलेजा भी मुँह को आ रहा था।

लोग-बाग आकर रमाकान्त को घेरकर बैठ गए। पर कोई कुछ बोल न सका—दर्द ने सब का मुँह बन्द कर रखा था, गृहिणी होश में आई, और पागल की भाँति वह मृतक की ओर को लपकी। बीच में बालिका भयभीत नेत्रों से खड़ी देख रही थी। गृहिणी ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया। वह कटे वृक्ष की भाँति धरती पर आ-गिरी। पास ही एक पत्थर पड़ा था। उसे उठाकर गृहिणी ने उसके हाथ में दे मारा, चूड़ियाँ चूर-चूर हो गईं। साथ ही ख़ून की धारा भी बह चली। वह निरपराधिनी बालिका 'मैया-मैया' कहकर चिल्ला उठी। उसका वस्त्र उड़ गया, बाल बिखर गए। गृहिणी ने वही पत्थर अपने सिर पर दे मारा, और बेहोश होकर गिर गई।

घर की स्त्रियों के रुदन का क्रम बदला। वे अब चीत्कार के स्थान पर सिसकियाँ लेकर, बालिका को लक्ष्य करके गालियाँ बकने

लगीं। 'रांड, अभागिनी, हत्यारी, मायाविनी, असैनी'—आदि उपाधियाँ उस पर बरसने लगीं। बालिका भी अब फूट-फूटकर रोने लगी। रोते-रोते ही वह धरती पर फिर गिर गई। पर किसी ने भी न उससे कोई सहानुभूति प्रकट की, न उसे सम्हाला ही। स्त्रियों की गाली-वर्षा भी उसी भाँति जारी रही।

धीरे-धीरे और भी स्त्री-पुरुष इकट्ठे होने लगे। प्रत्येक स्त्री के आने पर क्रन्दन बढ़ जाता था, पुरुषों में भी भाँति-भाँति की चर्चा होने लगी। कुछ देर मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता पर भिन्न-भिन्न उक्तियाँ और वाक्य कहे गए। फिर संसार की असारता की व्याख्या हुई। जिसकी जैसी भाषा थी, और शिक्षा थी, सब ने इस अगम्य विषय पर कुछ-न-कुछ अपनी राय प्रकट की।

इनकी बातें सुनकर रमाकान्त ज़ोर-ज़ोर से रोने और चिल्लाने लगा। कुछ लोगों ने ज़ोर-से साँसें भरी, कुछ ने आँसू पोंछने का अभिनय किया। एक ने कहा—

"भाई! इस बूढ़े पर ग़ज़ब का पहाड़ ही टूट पड़ा। बड़ा लड़का कहे में नहीं, यह यों गया।"

दूसरा बोला—"भगवान् की माया है, क्या करें—बेचारे के धन नहीं था, जन भी छिन गया।"

तीसरा बोला—"और लड़का कैसा होनहार था! पढ़ने-लिखने में होशियार—चतुर। हम तो तभी कह दिया करते थे, कि यह क्या इस घर के लायक़ है?"

जयनारायण (लड़की का पिता) बोला—"मैंने तो लड़के

की विद्या-बुद्धि को ही देखकर लड़की ब्याह दी थी—घर-बार कुछ नहीं देखा। पर हाय ! मुझे क्या मालूम थी, कि बुढ़ापे में मुझ पर यह आपत्ति आवेगी ! अभी एक साल भी नहीं हुआ, बड़ी लड़की की चोट सह चुका हूँ, अब फिर चोट पर चोट कैसे सहूँ ?" यह कहकर फूट-फूटकर रोने लगा। इस पर एक पड़ौसी बोले—"देखो, कैसी धूम का विवाह हुआ था—आज की-सी बात है—अगले आषाढ़ में एक बरस होगा। अभागिनी एक बरस भी सुहागिन न रही।"

"फेरों की गुनहगार" कहकर जयनारायण छाती कूटकर रोने लगे। रमाकान्त ने काँपते स्वर से कहा—"मैं तो हर तरह से लुट गया बाबूजी ! ७००) रुपये क़र्ज़ किये, बिरादरी में नाक रक्खी, अब तक पैसा भी नहीं पटा। मुझे तो माया मिली, न राम !!"

एक पड़ौसी बोला—"अब इन बातों में क्या है; जो चला गया, वह कहाँ से आवेगा ! पत्थर की छाती करके सन्तोष करो; लड़की है, इसे ही पालो—अब तो वही बेटा और यही बहू।"

इस पर सब बोल उठे—"हाँ साहब ! अब तो यही बात है।"

इसके बाद कुछ देर तक सन्नाटा रहा। सभी चुपचाप मुँह लटकाये बैठे रहे। कुछ ठहरकर जयनारायण रो उठे, बोले—"मेरी दुलारी कैसे रहेगी ? उसने कौन-सा पाप किया है ?"

इस पर पुरोहितजी बोले—"जिजमान ! उसके भाग्य में सुख

बदा होता, तो क्या इतनी दवा-दारू व्यर्थ जाती ? यह लड़की बड़ी अभागिनी है। होनहार नहीं टल सकती—किसी के भाग्य में दूसरे का भाग्य कहाँ-से चिपकाया जा सकता है ?"

जयनारायण ने झुँझलाकर कहा—"पुरोहितजी, सच पूछो, तो इस पाप के सब से बड़े भागी तुम ही हो। अब दिखाओ ना—वह टेवा और पत्री कहाँ है ? तुम्हारी ही बातों में आकर मैंने यह विवाह किया था !"

पुरोहितजी हाथ हिलाकर, और आँखें मटकाकर, बोले—"हरे राम ! शास्त्र-वचन पर भी अविश्वास ! हम किसकी सु-घड़ी लाकर किसकी कु-घड़ी में जोड़ दें ? शास्त्र में जो दीखा, सो कहा—भगवान् की माया को शास्त्र क्या करे ?"

"जब भगवान् की माया में शास्त्रों की नहीं चलती, तो इस लग्न-कुण्डली के पाखण्ड में ही क्या रक्खा है ?"

"नहीं रक्खा है, तो यों-ही सनातन से मर्यादा चली आती है ? तुम्हारे-ऐसे नास्तिक विचारांश हैं—जो-हैं-सो, तभी तो भगवान् का तुम पर कोप है।" इतना कहकर पुरोहित बाबा ने उपस्थित-मण्डली को लक्ष्य करके कहा—"श्रद्धा और विश्वास के बिना भी कहीं फल मिला है ?" फिर आँख मींचकर और एक लम्बी साँस लेकर कहने लगे—"हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण !! तुम्हीं हो।" इस बगुला-भगत को देखकर, और उसकी बात को सुनकर, जयनारायण की दुखी-आत्मा जल गई। उसने कड़क-कर कहा—"भगवान् का ऐसा कोप इन नास्तिक-विचारों से नहीं

है, परन्तु तुम्हारे बताये हुये इन अन्ध-विश्वासों को मानने से हुआ है। मैंने तुम्हारी बातों में आकर भगवती को नौ वर्ष की उम्र में विधवा बनाया—और नारायणी को सात वर्ष की उम्र में। तुम मुझे नास्तिक कहकर कोसते हो—पर यदि मैं सचमुच नास्तिक होता, तो आज मेरी दुलारी बेटियाँ—जब इनके खेलने-खाने के दिन थे—ऐसी अनाथिनी न बनतीं। मेरी इन दुधमुँही बेटियों को कोई अभागिनी कहता—तो मैं उसकी जीभ खींच लेता, उसका ख़ून पी जाता। पर आज मैं पिशाच बाप ही उन्हें अनाथिनी विधवा कह रहा हूँ। अभी पूरे दस मास भी नहीं बीते, जब उसकी माता ने सुहाग गाते-गाते मङ्गल-कृत्यों के साथ, उसे हरी-हरी चुड़ियें पहनाईं थीं आज उसी ने उन्हें पत्थरों से चूर-चूर कर दिया है। तुम अपने पोथी-पत्रे और उस सुहाग के अमर-पट्टे को लाओ तो सही, मैं उन्हें भी बेटी के सुहाग की तरह आग लगाकर फूँक दूँ, जिससे और किसी का भाग्य न फूटे! जब वे भगवान् की माया में दख़ल दे ही नहीं सकते, तो इन झूठे ढकोसलों की ज़रूरत ही क्या है?" इतना कहकर, वे धरती पर लोटकर रोने लगे। आँसुओं से उनकी दाढ़ी भीगकर तर होगई।

सब चुप। अन्त में एक बड़े-बूढ़े सज्जन ने उनका हाथ पकड़कर कहा—"बाबूजी, अब इन बातों से क्या लड़का जी-उठेगा? क्यों जी भारी करते हो? इसमें तुम्हारा क्या चारा था—लड़की के भाग्य में यही लिखा था।"

जयनारायण उठ बैठे। उन्होंने तीव्र स्वर से कहा—"क्या लिखा था?—कि वह सात वर्ष की उम्र में विधवा होगी? कभी नहीं—मैं पापी एक लड़की को देख चुका था। इसका अभी ब्याह ही न करता, तो भाग्य कहाँ जाता?"

"करते कैसे नहीं? होनहार सब करा लेती है।" पुरोहितजी ने तेज़ स्वर में कहा।

"क्या कहा—होनहार सब करा लेती है? तो फिर हर-एक काम को समझने-बूझने की ज़रूरत ही क्या है! जो होना होगा —होकर रहेगा। ईश्वर ने अक़्ल, समझ, विचार और बुद्धि, सब क्यों दिये हैं? पशुओं की तरह आँख मींचकर कुए में कूद पड़ना चाहिये।" जयनारायण एक ही साँस में कह गये।

"अजी, यों तो किससे कूदा जाता है। पर सोच-विचार करने पर भी काम बिगड़े, तो क्या किया जाय?"

"पर वैसा होता, तो सन्तोष तो रहता। मैंने तो क्रूर हत्यारे की तरह कन्या के गले में फाँसी डाली थी।"

"अब जो होगया, वह किसी तरह लौट भी सकता है!" दो-चार आदमी बोल उठे।

"लौट सकता, तो मैं अपने प्राण देकर भी लौटा लाता। केवल आज ही नहीं, सारे जन्म-भर मुझे यह बिच्छू डसता रहेगा। मेरे मरने के बाद मेरी कन्या क्या जाने, किस घर भीख माँगेगी—किस घर गुलामी करेगी!" इतना कहकर जयनारायण दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर रोने लगे।

समय बहुत होगया था। मृतक के संस्कार की अब तैयारियाँ होने लगीं। पुरुष इसमें व्यस्त हुए, और क्रन्दन और चीत्कार के समूह को भेदन करके, स्त्रियों के हाथों से बलपूर्वक मृतक-शरीर को छीनकर 'राम-नाम सत्य' का घोष करते चल दिये।

उस शून्य-पट पर उस सुन्दर युवा बालक की—जिसने केवल जगत् को झाँका ही था—अब स्मृति-मात्र रह गई। उसका अस्तित्व नष्ट होगया। अब उसका पार्थिव शरीर भस्मीभूत होने को चला गया। मनुष्य के जीवन का, कर्तव्य का, दृढ़ता, धैर्य और ममता का यह अद्भुत, आश्चर्यजनक और न समझा जानेवाला दृश्य था!!

दूसरा परिच्छेद

"क्या कहूँ बहन, सब कर्मों की लीला है!" यह कहकर शिवचरणदास की स्त्री ने अपनी गहरी सहानुभूति दिखाने को एक लम्बी साँस ली! पास ही हरगोविन्द की वृद्धा-मौसी बैठी थी। उसने कहा—"तीस वर्ष से तो मैं देखती आरही हूँ—इस निपूते घर में कोई नहीं फला-फूला। पहले यह घर कुञ्जू मिस्सर का था—पर प्लेग में १९ ही दिन में उसका सब चौपट होगया। उसकी विधवा ने इसे लाला माधोराम को बेच दिया। साल के भीतर

इसका जवान बेटा समा गया। तब से वे इसे छोड़कर दूसरे घर में गये। इसके बाद आगरे के बाबू आकर रहे। दूसरे ही महीने में उनकी घरवाली मर गई। अब यह देखो—पूरे दो वर्ष भी नहीं हुए—ब्याहा-ठाया जवान बेटा समा गया।"

वृद्धा की बात पर सब को श्रद्धा होगई—सब ने मुँह लटकाकर कहा—"हाँजी! ऐसे जले घर में कौन फले-फूले?" एक स्त्री अत्यन्त सावधानी से बोली—"चम्पा के चाचा कहा करते हैं कि मकान पर धम-धम की आवाज़ और आग की-सी लपट रात को उन्होंने खुद देखी-सुनी है।"

इस पर सब स्त्रियाँ भयभीत होगईं। हरगोविन्द की बूढ़ी मौसी गम्भीरता से बोली—"पास ही पीपल का पेड़ है ना! प्लेग में मुर्दों की क्रिया-कर्म तो होता नहीं था, बस, वे सब वहीं प्रेत बनकर रहते हैं।" इस पर एक नवोढ़ा बोली—"क्यों मौसीजी! ये प्रेत जल-गये आदमी को क्यों सताते हैं?"

मौसी ने बड़े इत्मीनान से कहा—"दूध, दही, मक्खन, मलाई खाकर जो बालक उनके थान पर से निकले, उसे वे नहीं छोड़ते—क्योंकि यह उनके भोग की प्यारी वस्तु हैं। कोई स्त्री इत्र-फुलेल लगाकर उधर से निकले, तो वे उसे भी मार डालते हैं।"

यह बात सुनते ही मिश्रीलाल की बहू डर से काँप गई! उसके कान में इत्र का फाया लग रहा था—सो उठकर उसने चुपके से फेंक दिया।

अब तक रमाकान्त की स्त्री चुपचाप बैठी थी—अब बोली, "यह लड़का तो कहे-का था ही नहीं। उस दिन रामचन्द्र के यहाँ से खीर-पूरी का न्योता जीमकर आया था—मैंने बहुतेरा कहा कि सो जा, दुपहरी में कहीं मत जा। पर वह किसकी सुनता था? एक न मानी—चला ही गया। वह सत्यानाशी पीपल भी तो रास्ते ही में है?"

इस पर सब बोल उठीं—"बस, तो वहीं से आफ़त लग गई!"

शिवचरणदास की स्त्री ने कहा—"तो मौसी! इससे बचने का कोई उपाय नहीं है?"

मौसीजी ने बड़े बड़प्पन से सिर हिलाकर कहा—"ओ हो! इस काम में तो भोला काछी जैसा देखा, ऐसा त्रिलोकी में कोई न होगा।"

इस पर गृहिणी बोली—"तो तुमने यह बात पहले क्यों न कही, मैं उसी को बुलाती!"

"उसे बुलाती तो क्या तुम्हारा बच्चा मर जाता? पर भाई, मैंने देखा, वैद्य-डॉक्टरों का इलाज हो रहा है—उसमें न बोलना ही अच्छा है।"

"वैद्य-डॉक्टरों से तो कुछ न हुआ।"

"होता कैसे? वे इस बात को बेचारे क्या समझें? कोई बीमारी होती, तो आराम होता।"

अब गृहिणी रोकर बोली—"हाय, मैं कैसी अभागिनी हूँ—मुझे यह बात तभी नहीं सूझी।"

इसी बीच में मृत बालक की विधवा-बालिका ने आकर सास से कहा—"चलो, भोजन बनालो—समय होगया है।"

गृहिणी ने झुँझलाकर कहा—"आग लगे भोजन में, मेरा तो बहुतेरा पेट भर रहा है। अभागिनी, तू मेरे सामने से टल जा।"

इस पर सारी स्त्रियों ने अचरज-से कहा—"एँ! देखो तो सही, इसे कुछ भी शोक नहीं। इसका सुहाग फूट गया है, फिर भी ऐसी फिर रही है? ऐसा तो कहीं देखा-सुना नहीं।"

गृहिणी बोली—"यह अभागिनी जब से आई है, मेरे घर की सारी श्री उड़ गई। बड़े की नौकरी छूट गई, चोरी हुई और अब मेरा लाल भी चल बसा। यह डायन आते ही उसे खागई। अब इसे काहे-का शोक होगा। मेरा तो सोने का घर मिट्टी होगया। ७०० का क़र्ज़ अलग छाती पर रक्खा है। निगोड़े बाप ने छल्ला तक नहीं दिया। मेरा लाल तो खागई, अब मेरी छाती पर मूँग दलेगी। इस हथिनी को जन्म-भर कहाँ से खिलाऊँगी?"

मौसी बोली—"हमें तो इसके कुलच्छन तभी दीख गये थे, जब ब्याहली आई थी। पर बहन, यह बात क्या कहने की होती है? कुछ कहती, तो उलटे हमीं को कोसती, कि हमारी बहू को ऐसा कहती हैं। चपटे पैर के तलुए और भारी कमर जिस लुगाई की होगी, वह कभी तो सुहागन होगी ही नहीं। शास्त्रों में इस बात को आज़माकर देख लो।—और इसके बो

मत्थे पर साँपन भी है। ऐसी लुगाई डायन का अवतार होती है।"

शिवचरणदास की स्त्री बोली—"ऐसी ख़समखानी का क्या मुँह लेकर फूँकें? रामजी न दे किसी को ऐसी बहू; क्वारा भले ही रक्खे।"

गृहिणी बोली—"जब से आई—मैंने इसे हँसते-बोलते न देखा। सदा रोती रही। सदा माथा सिकुड़ा रहा। गोपाल घर आता, तो सिकुड़कर कोने में घुस जाती—क्या मजाल, जो कभी पानी तो पिला दे! उससे इसे ऐसी नफ़रत थी, कि जैसी किसी जन्म के दुश्मन से होती है। अन्त में इसकी माया फल ही गई—उसे निगल ही गई। अब दोनों छिनाल कैसी मटकती फिर रही हैं! पेट में आग लग रही है।" यह कहकर गृहिणी ने कटकटाकर एक लात उसके जमाई। हतभागी बालिका तल-मलाकर धरती पर गिर गई। अभी अपने दुःख से रोने का भी उसे अच्छा ज्ञान नहीं हुआ था!!

तीसरा परिच्छेद

—:०:—

संसार सो रहा था। आधी रात जा चुकी थी। सब तरफ़ सन्नाटा था, परन्तु एक टूटे हुए मकान के दूसरे खण्ड में एक छोटी-सी कोठरी में चटाई पर बैठी हुई युवती, दीये के धुँधले प्रकाश में एक-मन होकर, कुछ सी रही है। तेल-बत्ती की कमी

से जब-जब दीये की लौ कम हो जाती है, तब वह उसे तिनके से उकसाकर फिर सुई चलाने लगती है। युवती की अवस्था मुश्किल-से १८ वर्ष की होगी। इसे अपूर्व सुन्दरी कह सकते हैं। परन्तु इसका सुनहरी शरीर बिल्कुल पुराने और मामूली वस्त्रों से ढका है। कोठरी में भी कुछ सामान नहीं है। एक मिट्टी का घड़ा, दो-तीन पीतल के बर्तन और एक छोटी-सी कपड़ों की पोटली। चारपाई और बिछौना घर में नहीं है। यह चटाई ही उसका बिछौना-ओढ़ना है।

यह सब तो युवती के अत्यन्त दरिद्र और अनाथ होने के लक्षण हैं। परन्तु जो वस्तु वह सी रही है, वह बहुमूल्य रेशमी बनारसी साड़ी का कपड़ा है। उस पर बहुत बढ़िया सलमे की बेल टाँक रही है। दो बजने से प्रथम ही उसने अपना काम पूरा किया। परिश्रम और सर्दी के कारण हड्डियाँ अकड़ गई थीं। उसने एक लम्बी साँस ली, और वस्त्र को सावधानी से लपेटकर एक ओर धर दिया, और तब उस चटाई पर पड़ रही।

प्रातःकाल होगया। पर कोहरा छा रहा था। युवती के पास कोई गर्म वस्त्र न था। कोयला-लकड़ी भी न थी। सर्दी से उसके होठ और मुख नीले हो रहे थे। वह शीघ्र उठ गई। हाथ-मुँह धोकर, और रात को तैयार किये हुये वस्त्र की पोटली को बग़ल में दबाकर घर से बाहर चली। ज़्यादा दूर नहीं जाना पड़ा। निकट ही के एक पक्के घर में घुसकर, उसने देखा—मालिकिन अभी पलङ्ग पर गर्माई में पड़ी हैं। युवती को देखते ही

उसने कहा—"ले आई? मैं तो फ़िकर में पड़ गई थी, कि शायद वायदा पूरा न करे। यह अच्छा हुआ—नहीं तो एक कौड़ी भी मज़दूरी न मिलती। ला दिखा, कैसा सिया है?" युवती ने डरते-डरते पोटली खोलकर सामने रखदी। कुछ देर उलट-पलटकर देख, और मन का भाव दबाकर उसने वस्त्र में कुछ दोष निकाले। तब कहा—"ख़ैर, रख जा! २॥=) मज़दूरी हुई न?"

युवती ने सूखे कण्ठ से कहा—"सिर्फ़ दो रुपये दस आने?"

गृहिणी ने भौं चढ़ाकर कहा—"और नहीं तो क्या?"

"मैंने आठ दिन-रात महनत की है।"

"तो मैं भी तो मज़दूरी देती हूँ। कोई बेगार में तो नहीं सिलवाती? शाम को मज़दूरी ले जाना।"

युवती ने भयभीत नेत्रों से देखते हुये कहा—"अगर अभी दे देतीं, तो बड़ी कृपा होती। घर में कुछ भी नहीं है।"

इस पर भौं सिकोड़कर गृहिणी बोली—"यह तो मैं जानती हूँ, तुम लोग बड़ी ओछी हो—घड़ी-भर भी धीरज नहीं होता। सबेरे-सबेरे भी कहीं देन-लेन होता है?"

युवती कुछ बोली नहीं। वह धीरे-धीरे चल दी। बाहर आकर उसने आँचल से आँसू पोंछ लिये।

वह टूटे हृदय से नीची नज़र किये सीढ़ी से उतर रही थी। पीछे से किसी ने उसके कन्धे पर हाथ धरा। उसने लौटकर देखा, एक युवती है—उसने क्षण-भर खड़ी होकर उससे आँख मिलाई। मानों मन-ही-मन पूछा—तुम कौन हो? उसने कहा—

"इस सर्दी में बिना गर्म कपड़ा पहने कहाँ निकली थीं—इतनी सबेरे इस दुष्टा के पास क्यों आई थीं?"

बालिका ने लज्जा और संकोच-भरे नेत्रों से युवती की ओर देखा। मन का दुख और निराशा छिपाकर बोली—"कुछ काम था।" कहकर वह आगे बढ़ी।

युवती ने रोककर कहा—"मैं इसी घर में रहती हूँ—आओ, ज़रा भीतर बैठो। आग जल रही है—ताप लो। तुम्हारे होठ नीले होरहे हैं।" बालिका क्षण-भर रुककर उसके पीछे चल दी। देखा—कमरे में खूब सजावट है। बढ़िया तस्वीरें और पर्दे लगे हैं। पलँग बिछा है, उस पर गद्दा और झका-झक सफ़ेद चादर बिछी है। ज़मीन में दरी का फ़र्श है। बालिका ने खड़े-ही-खड़े कमरे की सुख-सामग्री को ललचाई नज़र से देखा, एक ठण्डी साँस ली, और फिर वह आग के पास जा-खड़ी हुई। गृह-स्वामिनी युवती ने प्रेम से उसका हाथ पकड़कर कहा—"मैं भी तुम्हारी ही तरह दुखिया और अकेली हूँ।"

"परन्तु देखती हूँ, तुम बड़े सुख से हो।"

"कुछ दिन से एक सज्जन की कृपा से यह सुख नसीब हुए हैं। पहले मैं बड़े कष्ट उठा चुकी हूँ। पर तुम तो बड़ी ही दुखिया मालूम होती हो। कैसा सुन्दर तुम्हारा रूप है! कैसी आँखें और रस-भरे होठ हैं! पर यह सब सूख गये हैं। क्या तुम भूखी हो?"

बालिका दो दिन से भूखी थी। पानी को छोड़, अन्न उसके मुख

में न गया था। फिर भी उसने कहा—"नहीं, भूखी तो नहीं हूँ।" परन्तु उसके क्षीण स्वर ने हृदय का भेद खोल दिया। युवती ने बड़े प्रेम और आग्रह से उसे कुछ खाने को कहा, परन्तु उसने किसी तरह स्वीकार नहीं किया।

युवती ने कहा—"मैंने भी बड़े कष्ट भोगे। मैं ७ वर्ष की आयु में विधवा होगई थी। तीन वर्ष बाद मा-बाप मर गये। भाई-भावज के घर दिन न कट सके। लाचार, भाग आई। ओफ़्! कितने दिन भूखी-प्यासी रही! कितने दिन भीख माँगी! कितनी तकलीफ़, कितनी मुसीबत! बहन, तुम शायद अब वैसी ही मुसीबत उठा रही हो?"

बालिका ने दयार्द्र स्वर में कहा—"शायद वैसी नहीं। मैं वैसे तो जन्म-दुखिया हूँ, पर विपत्ति का पहाड़ केवल छः महीने से मेरे ऊपर टूटा है।"

"मेरे पिता मुझे छः महीने की छोड़ मरे थे। माता ने मुझे देखकर जीवन के दिन काटे। मैं अभागिनी पूरी उम्र होने से प्रथम ही सुहागन बना दी गई, और उसके १२ दिन बाद ही विधवा। एक बार सुसराल गई। ३ दिन रही, और चली आई। इस बात को आज ११ वर्ष होगये। अब तो कुछ याद ही नहीं आती। तब से माता की गोद में पलती रही। धीरे-धीरे हमारा सर्वस्व नष्ट होगया। कपड़े-बर्तन भी पेट में गये। पर परमेश्वर को धन्यवाद है, कि भीख की नौबत नहीं आई। हम दोनों माँ-बेटी सिलाई करके पेट पालती रहीं, पर ईश्वर ने अब की मार

गहरी मारी। मेरी माता भी चल बसी। मैं अकेली-ही अब दुनिया में हूँ, और जैसे-तैसे पेट का कुछ उपाय कर लेती हूँ।" इतना कहते-कहते उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। युवती ने अत्यन्त सहानुभूति से कहा—"पर बहन, इतना कष्ट क्यों पाती हो? तुम चाहो, तो मेरी तरह रह सकती हो—वे सज्जन, जो मेरी परवरिश करते हैं, तुम्हारी भी ख़बर रखेंगे। वे बड़े धनी, बड़े सुन्दर, बड़े सज्जन और बड़े प्रेमी हैं।"

बालिका शङ्कित हुई। उसने भयभीत और अकुलाई दृष्टि से युवती को देखकर कहा—"वे क्या मुझे सिलाई का काम दे सकेंगे?"

युवती ने कुटिल-चेष्टा कर, तेज़ स्वर में कहा—"सिलाई में आँखें फोड़ोगी?" बालिका ने लाचारी के स्वर में कहा—"तब, और तो कोई काम मुझसे आता ही नहीं।"

युवती क्षण-भर को विचलित हुई। उसके मन में जो-कुछ था—वह किसी तरह नहीं कह सकी। उसने उसके कन्धे पर हाथ धरकर कहा—"तुम बड़ी भोली हो, परन्तु दुनिया में इतनी भोली, और इतनी भली बनकर काम नहीं चलता। मैं तुम्हारे ऊपर तरस खाती हूँ। तुम्हारा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता, पर तुम सचमुच क्या मेरा मतलब नहीं समझतीं?"

"तुम कौन-से मतलब की बात कहती हो?"

"मेरे इस ठाठ और आराम को देखकर, क्या तुम्हें इस तरह रहने की इच्छा नहीं होती?"

"होती है, पर इच्छा करने से-ही क्या सुख मिल जाता है?"

"बहन! भाग्य भी तो कुछ चीज़ है?"

"पर तुम क्या मेरे भाग्य पर डाह नहीं खातीं?"

"मैं डाह क्यों खाऊँगी?"

"अच्छा, तुम्हें भी यदि यह सब मिले तो?"

"कैसे?"

"जैसे मुझे मिले हैं।"

"किस तरह तुम्हें मिले हैं?"

युवती रुकी। उसके होठ काँपे। उसने कहा—"रूप बेचकर।"

बालिका को मानो ज़ोर-से चाबुक लगा। वह क्षण-भर को मानो बेहोश होगई। पर फिर, तत्काल सम्भलकर उठी, और पागल की तरह भागी। युवती ने उसे रोकना चाहा, पर वह न रुकी।

चौथा परिच्छेद

——:**:——

जब बालिका उस युवती के घर से भागी, तब सीधी अपनी कोठरी में आकर साँस ली। घर में आकर, जल्दी-से द्वार का कुपडा भीतर से बन्द कर लिया, और चटाई पर पड़कर हाँपने लगी। उसके सर में चक्कर, और आँखों में अँधेरा आरहा था।

दिल की धड़कन बढ़ गई थी, और वह हाँप रही थी। वह

सोचने लगी—"हे भगवान् ! यह क्या सुना ? क्या दुनिया ऐसी है ? हाय ! यह चमक और ठाठ इस तरह मिलते हैं !" उसे अब अपनी माता का स्मरण आया—और वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसके रोम-रोम में भय और चिन्ता भर रही थी।

वह विपत्ति की मारी बालिका, इस अथाह समुद्र में डूब-उतरा रही थी, कि किसी ने द्वार खटखटाया। खोलकर देखा, तो किराये के लिये, मकान-मालिकिन खड़ी है। जैसे हिरनी बाघ को देखकर सहम जाती है, उसी तरह सहमकर अनाथा ने वृद्धा को देखा।

वृद्धा ने कर्कश स्वर में हाथ आगे बढ़ाकर कहा—"दे ला, किराया दे, आज-ही का तेरा वायदा है ?"

बालिका ने बिल्कुल दबे स्वर से कहा—"चाची ! आज मैं दे ज़रूर दूँगी, अभी तो दिन ही निकला है। मैं काम पूरा करके दे आई हूँ, पर अभी मज़दूरी मिली नहीं है।"

डाइन की तरह एक-दम सिर पर गर्जकर बुढ़िया बोली—"मज़दूरी का क्या मैंने ठेका लिया है ? दो महीने होगये, किराया नहीं दिया ? ला, अभी दे, नहीं तो चोटी पकड़कर बाहर निकालती हूँ।"

लड़की प्रार्थना भी न कर सकी। वह अधमरी-सी होकर बुढ़िया की ओर ताकने लगी।

बुढ़िया ने कहा—"इस तरह मरे बैल-से दीदे क्या निकालती है ? किराया दे !"

बालिका ने कुछ बोलना चाहा, पर उसकी जीभ तालू से चिपक गई। उसने धरती पर गिरकर बुढ़िया के पैर पकड़ लिये। अन्त में उसने टूटते स्वर से कहा—"चाची! दो दिन से अन्न का दाना मुँह में नहीं गया, पर पहले किराया दूँगी; पीछे जल पीऊँगी। तुम शाम तक दया करो।"

बुढ़िया का हृदय पिघला। पर क्षण-भर बाद उसने कहा—"शाम को नहीं, अभी दे। कहीं से दे। उठ। मैं अभी लूँगी। अभी तेरा गूदड़-बोरिया फेंकती हूँ।"

बालिका भयभीत होकर, उठ खड़ी हुई। उसने कहा—"चाची! मैं अभी जाती हूँ।" इतना कहकर बेत की तरह काँपती हुई लड़की फिर घर से बाहर निकली। उसके हृदय और आँखों में अँधेरा था।

उसे कुछ सूझता ही न था। वह तीर की तरह घायल करने-वाली हवा से शरीर को घायल करती हुई, फिर उसी द्वार पर आ-खड़ी हुई। वह बड़ी देर तक वहीं खड़ी रही, और अन्त में भीतर घुसी।

मालिकिन अभी पलँग पर बैठी थी। लड़की को देखते-ही, उसने आग होकर कहा—"अब कैसे आई?"

बालिका चुप रही। फिर वह धीरे-से धरती पर बैठ गई, और कातर-कण्ठ से बोली—"मुझे चाची ने निकाल दिया। दो महीने से किराया ही न पटा। दया करके कुछ दे-दो। मैं भूखी तो और कल तक रह सकती हूँ, पर चाची को क्या कहूँ?"

गृहिणी बोली नहीं। बड़ी देर तक वह मौन-कोप में भरी बैठी रही। सील-भरी धरती पर बालिका बैठी, काँपती हुई, गृहिणी के मुख से शब्द निकलने की प्रतीक्षा करने लगी। दुबारा उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

अन्त में गृहिणी भी बोली। उसने उसी वस्त्र की पोटली उसके हाथ में देकर कहा—"जा, ज़रा राजा साहब की कोठी तक चली जा, और यह कपड़ा रानीजी को पसन्द करा ला। पसन्द आजाय, तो कपड़ा छोड़ आना। और यह पर्ची ले, ये रुपये लेती आना। ना-पसन्द आने पर, उसमें जो कोई कसर होगी, पूरी करनी पड़ेगी।"

लाचार लड़की चली। पर्ची में पढ़कर देखा—बाईस रुपये! हे भगवान्! दो रुपये दस आने के बाईस रुपये!! बाईस रुपये की मजूरी के दो रुपये दस आने!!! पर उसे किराये की सब से बड़ी चिन्ता थी। वह बढ़ी चली जा रही थी। नम्बर पूछती हुई वह कोठी में पहुँची, और राजा साहब के सामने पेश हुई।

राजा साहब की उम्र लगभग चालीस वर्ष की थी। रङ्ग साँवला था। आँखों में लम्पटता कूट-कूटकर भरी थी। दो दिन की भूखी, दुःख-दर्द से व्यथित, शीत से ठिठुरी हुई बालिका के मुरझाये हुये पीले चेहरे को देख, राजा साहिब घूरने और मुस्कराने लगे। ग़रीब लड़की ने घबराई आवाज़ से कहा—"सर-कार, कपड़ा तैयार है।" कहकर धीरे-से उसने मेज़ पर पोटली रखदी, और आगे बढ़कर पर्ची राजा साहब के हाथ में दी।

राजा साहब ने पर्ची न छूकर उसका बढ़ा हुआ हाथ पकड़ लिया। और बोले—"तू कौन है?"

बालिका क्या जवाब देती? उसने धीरे-से हाथ खींच लिया। वह वहाँ से जाने को उद्यत हुई। पर रुपये पाने से ही उसकी मज़दूरी मिलेगी। उसने धरती पर गिरी हुई पर्ची उठाकर फिर राजा की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—"हुजूर! इसके रुपये मालिकिनजी ने मँगवाये हैं।"

राजा साहब उस कुम्हलाये मुख-कमल का रस पी रहे थे। वह अति सुन्दर दरिद्र बाला—मानो प्रातःकाल की पीत-प्रतिमा थी। मैले और फटे वस्त्रों में—वह विपत्ति की आग में तपाया तपस्वी शरीर उस विलासी, घृणित, काम के कीड़े के मन में वासना की तरंग उछाल रहा था। उसने दुबारा लड़की की विनीत बात सुनकर कहा—"तू है कौन?"

लड़की ने जवाब दिया—"सरकार, मैं सीने का काम करती हूँ।"

"दर्ज़ी की लड़की है?"

"नहीं?"

"तब?"

"मैं सीकर ही दिन काटती हूँ।"

राजा साहब ने आगे बढ़कर पूछा—"तेरा कोई और अपना है?"

"नहीं सरकार।"

"तू अकेली है?"

"जी।"

"तेरा नाम क्या है?"

"सुशीला।"

"सुशीला" कहकर राजा साहब हँसे। कुछ आगे बढ़कर उन्होंने उसकी ठोढ़ी पकड़कर, ऊपर उठाकर कहा—"सचमुच सुशीला है। यह कपड़ा तूने सिया है?"

"जी" इतना कहकर बालिका पीछे हट गई। उसने अपने फटे और ओछे वस्त्र को यथा-सम्भव सम्भाला। फिर उसने उठकर कहा—"हुज़ूर, मुझे बड़ी देर हो रही है।" राजा साहब ने अतृप्त नेत्रों से उसे घूरकर कहा—"शाम को चार बजे बिल के रुपये लेजाना, अभी तुमको इनाम मिलेगा।" इसके बाद राजा साहब ने नौकर को बुलाकर पाँच रुपये लड़की को इनाम देने की आज्ञा दी। परन्तु लड़की ने इनाम लेने से साफ़-इन्कार करके कहा—"अगर सरकार अभी रुपये देदें, तो मुझे मेरी मज़दूरी मिल जाती। मैं बहुत ग़रीब हूँ, मुझे पैसों की बड़ी ज़रूरत है।" राजा साहब हँसकर बोले—"तुम इनाम क्यों नहीं लेती?"

"माँ की आज्ञा थी कि सिवा मज़दूरी के और किसी से कुछ लेने में कुल-मर्यादा जाती है।"

राजा साहब चुप हुए। वे कुछ देर तक घूर-घूरकर लड़की को देखते रहे। उस मूर्तिमान करुणा को देखकर भी उनके मन में करुणा के स्थान पर विनोद का भाव प्रबल था। जिन्होंने कट

कभी देखा नहीं। जो कभी दरिद्रता से मिले नहीं, जिनके हृदयों में दया के स्थान पर लालसा, प्रेम के स्थान पर वासना, और सहानुभूति के स्थान पर स्वार्थ भरा हुआ है, वे ग़रीबों पर क्यों दया करें? उन्होंने कहा—"रुपये शाम को आकर ले-जाना।"

बालिका अब चली, और मालिकिन के पास सन्देशा लेकर पहुँची। पर वहाँ भी उसे यही जवाब मिला, और वह सूने हृदय से फिर अपने घर लौटने लगी। पर जाय कहाँ? बिना किराया दिये वहाँ जाना सम्भव नहीं। बालिका न कुछ सोच सकती थी, न कर सकती थी। वह उस समय रो भी न सकती थी। वह निर्जीव कठपुतली की तरह अपने घर न जाकर, किसी और ही तरफ़ जारही थी।

यह तो था; पर यही सब-कुछ न था। उसके पीछे एक और विपत्ति थी, जिसका उसे ज़रा भी ज्ञान न था। एक मनुष्य राजा साहब की कोठी से पीछे लग रहा था—ज्योंही बालिका शून्य जगह पर पहुँची, उसने आगे बढ़कर कहा—"कहाँ जारही है?" बालिका सावधान हुई। उसने ध्यान से देखा। एक नया भय उस पर सवार हुआ। उसने घबराई दृष्टि से इधर-उधर देखा, और सूखते कण्ठ से कहा—"मेरा मार्ग क्यों रोकते हो?"

मनुष्य ने निर्लज्जता से कहा—"यह रूप-सुधा लेकर कहाँ भटक रही है, कोई लूट ले, तो?"

बालिका पूरा मर्म न समझी, पर मनुष्य का आशय समझ

गई। मनुष्य ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"जाती कहाँ हो, ज़रा बात सुन लो, फ़ायदे की बात है।"

बालिका ने कुछ कहा नहीं। वह पुरुष की ओर ताकने लगी। पुरुष ने कहा—"देखो, राजा साहब कैसे सुन्दर और सजीले हैं; वे जी-जान से तुझ पर मोहित हैं। बस, तक़दीर खुली हुई समझ, और मेरे साथ चल, आज से ही रानी की तरह रह।"

एक-दम इतनी बातें! बिल्कुल अपूर्व, पर बिल्कुल असह्य! बालिका लौटकर भागी। मनुष्य ने लपककर हाथ पकड़ लिया। बालिका ज़ोर करने और चिल्लाने लगी। अब उसने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया। लड़की यथा-शक्ति हाथ-पैर मारने लगी, पर वह बलिष्ठ पुरुष उसे पकड़े हुए था। निकट एक गाड़ी तैयार खड़ी थी। मनुष्य ने इशारा करके बुलाया।

हठात् एक युवक उस मनुष्य पर टूट पड़ा। लड़की उसके हाथ से छूटकर अलग जा पड़ी—दोनों गुथ गये, और उनमें खूब चोटें चटकने लगीं। लड़की ने दुष्ट के हाथ से छूटते ही चिल्लाना शुरू किया। तीन-चार आदमी और आगये, और दुष्ट भाग गया। युवक ने अपने कपड़े झाड़कर देखा—बालिका एक ओर खड़ी है। उसने उसके पास पहुँचकर कहा—"तुम्हारा घर कहाँ है? चलो, मैं पहुँचा दूँ।"

बालिका चुपचाप चलदी। पीछे-पीछे युवक चल दिया।

घर आगया। अब किराये का भय अधिक न था—क्योंकि उससे अधिक भय उसने देख लिया था। वह घर में घुसी, युवक

भी घुसा। कोठरी में जाकर देखा—एक मिट्टी का घड़ा, टूटी चटाई और एक असंख्य पैवन्द-लगी धोती को छोड़कर कुछ न था। तमाम घर पर दृष्टि डालकर युवक ने बालिका पर दृष्टि डाली। दृष्टि क्षण-भर दृष्टि से लड़ी और धरती में धँस गई।

युवक ने सब-कुछ समझ लिया, और कहा—"क्या यही तुम्हारा घर है?"

बालिका ने नीची नज़र से कहा—"जी।"

"तुम्हारा और कोई है?"

"नहीं।"

"अकेली ही हो?"

"जी।"

"गुज़र कैसे करती हो?"

"कुछ सिलाई का काम मिल जाता है।"

"बहुत ठीक; क्या तुम क़मीज़ें सी सकती हो?"

"जीहाँ।"

"आज-ही दे सकती हो?"

"जीहाँ।"

"सिलाई क्या लोगी?"

युवक मुस्कराहट न रोक सका, पर बालिका लाज से गड़ गई।

क्यों?—यह हम क्या जाने? प्राणियों के हृदय के भीतर—गहरे पर्दों में पता नहीं, क्या-क्या होता रहता है। जिह्वा पर

बातें बहुत कम आती हैं; पर होठों पर और आँखों पर वो बेतार की तारबर्क़ी चलती ही रहती है।

युवक जल्दी-से चल दिया। लड़की धन्यवाद भी न दे सकी, नाम भी न पूछ सकी, फिर कभी मिलोगे या नहीं, यह भी न पूछ सकी। परन्तु यह सब बातें जानने को वह व्याकुल होगई। क्यों? अब हम 'क्यों' का जवाब कौन दे? हमें तो क़िस्से का सिलसिला जारी रखना है।

युवक नीचे जाकर मकानवाली डायन से मिला। उसने छूटते ही लड़की को गाली देनी शुरू की। लड़की में अनेक एब गिनाये, पर सब का कारण किराया न देना था। युवक ने पूछा, कितना किराया है? बुढ़िया बोली—पूरा डेढ़ रुपया। दो महीने का चढ़ गया है। युवक ने १०) का नोट निकालकर बुढ़िया के हाथ पर धर दिया, और कहा—"यह एक साल का पेशगी किराया लो—कभी उसे कड़ी बात न कहना, ख़बरदार!"

बुढ़िया ने धुँधली आँखें पोंछकर नोट को देखा, और फ़ौरन् उसका स्वर बदला। लड़की गऊ की तरह सीधी, बड़ी सुन्दर और सुशीला है। नाम धरनेवाले की भी बुढ़िया ने तारीफ़ कर डाली।

युवक बाज़ार गया, और शीघ्र ही लौटकर उसने एक थान कपड़ा लड़की के आगे ला-धरा—२) नक़द चटाई पर धर दिये, और कहा—"यह पेशगी सिलाई लो-एक क़मीज़ शाम को ज़रूर मिल जाय।

उसने जवाब की भी प्रतीक्षा न की, तेज़ी से चल दिया। लड़की पागल की तरह देखती रही। उसकी सुन्दर आँखों में आँसू के बड़े-बड़े मोती छलछला आये। दोनों रुपये उसने उठा लिये, और किराया चुकाने वह सीढ़ी उतरकर नीचे को चली।

पाँचवाँ परिच्छेद

"बड़े ध्यान से पढ़ाई होरही है—बस, अब दफ्तर जाने की ही कसर है।"

भगवती ने पुस्तक से सिर उठाकर देखा,—हरसरन की बहन चम्पा खड़ी है। उसे देखते ही भगवती हँसकर बोली—"बस, दफ़्तर में कोई जगह ख़ाली हुई, और मैंने नौकरी की। आ बैठ, तू कब से खड़ी है?"

चम्पा ने बैठकर कहा—

"फिर तो तू हमसे बात भी न करेगी? तब तो तू मर्द बन जायगी, और फिर दूसरा ब्याह करने में भी कोई दोष न रहेगा।"

"हाँ, हाँ—पर ब्याह मैं तुमसे करूँगी?"

"मुझसे!"

"हाँ, क्यों हर्ज ही क्या है?"

"मुझे दूल्हा बनावेगी?"

"दूल्हा क्यों ? बहू बनाऊँगी—अभी तू कहती थी न, फि मैं मर्द बन जाऊँगी—आख़िर तुझे भी तो एक मर्द चाहिये न ?"

चम्पा ने भगवती को धक्का देकर कहा—"चल परे हो, किताबों में पढ़कर तैंने यही लच्छन सीखे हैं !"

"लच्छन क्या बुरे हैं ?"

"बड़े अच्छे" कहकर चम्पा चुप होगई, और कुछ ठहरकर भगवती बोली—"कहे तो तुझे भी इन किताबों का पढ़ना सिखा दूँ ?"

चम्पा ने कुछ कौतुक से कहा—"मुझे कैसे सिखावेगी ?—और किताब ही मुझे कौन लाकर देगा ?"

"किताब तो यहीं गली-गली बिकती फिरती हैं—यह देख, कल तीन पैसे में यह मोल ली है—बड़ी अच्छी किताब है।"

"तीन पैसे में इतनी बड़ी किताब ? वाह भई; कल स्कूल से राजू चार आने की जो किताब लाया है—वह तो इससे चौथाई भी नहीं। अच्छा, इस किताब में है क्या।"

"तोता-मैना का क़िस्सा।"

"तोता-मैना की सूरत भी बन रही है।—तो इस किताब में क्या बात है ?"

"एक तोता और मैना बात करने लगे। तोता बोला—कि औरत की ज़ात बेईमान होती है,—चाहे जितनी सम्हालकर रक्खी जाय, बिना बिगड़े नहीं रहती। मैना ने कहा—मर्द के बराबर कोई बेपीर नहीं। औरत चाहे मर जाय, पर मर्द किसी

के नहीं हुए। इसी बात पर दोनों ने कहानियाँ सुना-सुनाकर अपनी-अपनी बात की सचाई दिखाई है।"

चम्पा ने अचरज से ठोढ़ी पर हाथ रखकर कहा—"अच्छा! ऐसी-ऐसी बातें लिखी हैं—देखूँ!" कहकर चम्पा पुस्तक हाथ में लेकर पन्ने उलटने लगी। फिर बोली—"तो इस किताब में देख-देखकर तुम्हें कैसे मालूम हो जाता है कि यह बात तोते ने कही और यह मैना ने कही?"

"हरफ़ पहचानकर पढ़ लेते हैं—तुम्हें हरफ़ पहचानने आजायँ, तो तू भी पढ़ने लगे।"

चम्पा ने जल्दी से कहा—"तो फिर जीता कौन? मर्द बेईमान रहे, या औरत?"

"अभी तो मैं पढ़ ही रही हूँ, पीछे यह बात खुलेगी।"

"यह तो बड़ी अच्छी किताब है। इस किताब को तुम मुझे तो दो। मैं आज रात को 'उन्हें' दिखाऊँगी, वे तो ख़ूब पढ़ना जानते हैं—देखें, मर्दों की बुराई पढ़कर क्या कहते हैं।"

भगवती ने तनिक रसिकता से कहा—"क्यों? मर्दों की बुराई तुम्हें बड़ी भाती है!"

"फिर इसमें मेरा दोष ही क्या है? मर्दों ने हमारे लिये कैसे बन्धन और रोक लगा रक्खे हैं और आप आगे नाथ न पीछे पगहा।"

भगवती ने कुछ गम्भीर बनकर कहा—"तू ही जाने बहिन! मर्दों से तेरा ही पाला पड़ा है।"

चम्पा ने बीच ही में काटकर कहा—"और तू भी तो मर्दों की साँसत भुगत रही है। तेरे भैया की बहू मरते देर न हुई—और तेरहवीं को ही सगाई चढ़ गई। परन्तु तू सारी ज़िन्दगी रँडापा भुगता कर—भाभी की जूतियाँ खाया कर—बैठी-बैठी भाई के टुकड़े तोड़ा कर, बस।"

भगवती एकन्दम उदास होगई। उसने उसी भाव में कहा—"यह तो जो होता आया है, वही होगा। मर्दों के तो ब्याह होते ही हैं, हमारा कैसे होसकता है? जो भाग्य में है वही भोगना पड़ेगा। (आँसू भरकर) चाचाजी जीते हैं, तो रोटी भी मिली जाती हैं, पर भाभी तो जैसी रोटी देगी, दीख रहा है। ऐसी-ऐसी सुनाती है कि तुमसे क्या कहूँ;—जब देखो, टेढ़ी नज़र। पर कहूँ किससे? जो चाचाजी से कहकर भाई को फटकार बतवाऊँ, तो और भी आफ़त आवे।"

चम्पा जोश में बोली—"कैसी आफ़त आवे? घर क्या उसी का है? तू फ़ौरन् अपने चाचा से सब बात कह दिया कर, उसका सब जुक़ाम एक ही फटकार में झड़ जाया करेगा। पराये घर की झूठन धी-बेटियों पर बोली कसेगी?"

भगवती और भी उदास होकर बोली—"एक बार मैंने चाचाजी से कह दिया था, तो उन्होंने समझाया, कि यह तो बेचारी आप ही आफ़त की मारी है—इसे देखकर बहू, तू क्यों कुढ़ा करती है? सो तब तो चुप होगईं, पीछे मुझे तंग करने में कुछ उठा न रक्खा। मेरे लिये कभी शाक नहीं,—कभी बच रहे,

तो उठाकर नमक फाँक दे। कभी बासन माँजने को गर्म पानी न करने दे। मेरी किताब फाड़कर डाल दी। धोती चौकी पर पड़ी थी, उस पर दावात उलट दी। भैया से जाने क्या-क्या कह दिया, कि वे भी सीधे-मुँह नहीं बोलते हैं। मैं तो अकेली बैठी इन्हीं किताबों में सिर खपाया करती हूँ।"

चम्पा यह सुनकर बहुत दुखी हुई। कुछ ठहरकर उसने कहा—"नारायणी भी तो आनेवाली थी, कब आवेगी? उसे भी तो तेरी भाभी कच्चा ही खा जायगी। क्यों, भैया उसे परसों लेने जावेंगे? उसकी ससुराल से ख़बर आई है, कि इसे लेजाओ, यहाँ दिन-रात रोती, और कलह रखती है?"

"बेचारी फेरों की गुनहगार है।"—कहकर चम्पा ने अपनी आँखें पोंछ डालीं। फिर एक साँस लेकर बोली—"अरी, सब भाग्य के खेल हैं! अच्छा, अब जाती हूँ, रोटी-पानी का समय आगया है; आजकल मुझे ही खाना बनाना पड़ता है। ला, इस किताब को लेती जाऊँ।"

भगवती उठ-खड़ी हुई, अब उसके मुख पर प्रफुल्लता या आनन्द नहीं था। उसने चुपके-से पुस्तक चम्पा के हाथ में रख दी, और धीमे, पर आग्रह के स्वर में कहा—"चम्पा, ऐसी भी क्या बात; तनिक इधर झाँक तो जाया कर।"

चम्पा ने कहा—"कल आऊँगी, ज़रूर।"

छठा परिच्छेद

—::०::—

युवक का नाम था—प्रकाशचन्द्र! वह लॉ-कॉलेज का विद्यार्थी था, और कॉलेज-होस्टल में रहता था। उसके पिता पञ्जाब में कहीं एक्स्ट्रा-असिस्टेण्ट-कमिश्नर थे। युवक की आयु २१ के लगभग होगी। इसका रङ्ग उज्ज्वल, शरीर गठा हुआ, बड़ी-बड़ी आँखें, उभरा हुआ सीना, फूले हुए होंठ, प्रशस्त मस्तक और स्वच्छ दाँत, साधारणतया एक ही दृष्टि में उसकी ओर मन को आकर्षित करते थे।

वह प्रातःकालीन वायु-सेवन के इरादे से धीरे-धीरे घटना-स्थल की ओर से आरहा था, कि चीत्कार सुनकर विपत्ति में पड़ गया।

विपत्ति? हाँ, विपत्ति ही तो; अजी, जिस विपत्ति ने उसे नई चिन्ता, उद्वेग और विचलित अवस्था में डाला, वह क्या विपत्ति नहीं? फिर चाहे वह कितनी ही मधुर क्यों न हो!

वह धीरे-धीरे अपने होस्टल के कमरे में आकर थकित भाव से पड़ गया, और उसने भीतर से द्वार बन्द कर लिया। वह अतिशय गम्भीरता से विचार में डूब रहा था, और उसके विचार का विषय थी, वही अनाथ असहाय बालिका। ओह! कैसी सुन्दर, कैसी प्रिय, कैसी मधुर; परन्तु, इतनी दरिद्र! न खाने का ठिकाना, न रहने का; न वस्त्र, न बिछौना; न सगा, न सम्बन्धी! अकेली यह कुसुम-कली, क्या धरती फोड़कर पैदा हुई?—या आसमान से गिर पड़ी—? फिर इतना सौरभ लेकर? उसके पास विपत्ति को छोड़कर कुछ नहीं है। वह मानो यथेष्ट न था, अब और आफ़त यह, कि दुष्टों के यह घृणास्पद अत्याचार!

युवक बहुत दुखी हुआ, पर वह स्वयं सोचने लगा—इस दुःखिनी बाला का मैं कौन हूँ? क्यों इतना दुःख मेरे मन में उसके लिये उत्पन्न होगया है, और क्यों मैं उसके लिये इतना सोच रहा हूँ? क्या मुझे यह उचित है? उसे मैंने आततायी से बचाया, उसे घर तक पहुँचाया—यह तो ठीक हुआ, पर कपड़ा सिलवाना, फिर जाने-आने का सिलसिला क़ायम करना, यह भी क्या उचित हुआ? क्या मुझे सायंकाल को फिर जाना पड़ेगा? युवक उठकर टहलने लगा। उसका मन अधीर होरहा था। वह सोचता—जाने दो, अब कहीं जाने-आने का काम नहीं है, वह कपड़े की क़मीज़ बनाकर बेच खायगी, कुछ दिन गुज़र जायँगे। फिर न होगा, कुछ ख़र्च-पानी भेजता रहूँगा। परन्तु आह! युवक

के विचारों में गड़बड़ी पड़ गई; वह कुछ निश्चय ही न कर सका।

भोजन का समय आगया—मेस का नौकर कई बार बुला गया, पर प्रकाशचन्द्र उस दिन भोजन को न गये। वे जितना ही उस बालिका को भुलाना चाहते थे, उतना ही वह उसके सम्मुख आती थी, मानो इतनी ही देर में उसकी स्मृति उनके हृदय-पटल पर अमिट-सी होगई है।

उन्होंने पुस्तक खोलकर पढ़ना चाहा, और भी किसी काम में मन लगाना चाहा, पर किसी काम में मन न लगा। वे ज्यों-ज्यों बालिका के पास सायंकाल को न जाने की सोचते, त्यों-त्यों उन्हें भासता कि यह असम्भव है। वे कुछ भी स्थिर न करके चुपचाप लम्बी तानकर पड़ रहे।

सन्ध्या होने लगी, और युवक अभी यह स्थिर ही न कर सके थे, कि उन्हें वहाँ जाना है, या नहीं; परन्तु वे उठकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े पहनने लगे।

उनके मन ने पूछा—"कहाँ चले?"

"यों-ही ज़रा घूमने!"

"वहाँ तो न जाओगे?"

"नहीं-नहीं।"

मन मानो ठठाकर हँस पड़ा। उसने कान के पर्दे के भीतर घुसकर कह दिया—"हर्ज क्या है? ज़रा देख ही आना।"

"नहीं।"

"कमीज़ सिली, या नहीं?"

"कमीज़ को जाने दो।"

"उस पर कैसी बीती।"

"अब और क्या आफ़त है ?"

"किरायेवाली।"

"उसका तो साल-भर का चुकता होगया।"

"मगर राजा साहब ?"

युवक चमक गया। अरे हाँ, वह हरामख़ोर राजा उसे कष्ट दे सकता है। युवक तीर की भाँति बालिका के घर की ओर लपका, पर इस जल्दी में अपने बालों को सँवारना और ज़रा वेश-भूषा की विवेचना करना वह भूला नहीं।

क्यों ?

अब इस बात का हम क्या जवाब दें। उसकी इच्छा।

सातवाँ परिच्छेद

—:०※०:—

रुपये लेकर बालिका नीचे किरायेवाली के पास गई। वह डर रही थी। उसने डरते-डरते वे रुपये बुढ़िया के सामने रक्खे। परन्तु उसने देखा—बुढ़िया का रङ्ग-ढङ्ग सभी बदला हुआ है। बुढ़िया ने हँसकर कहा—"अरी बावली, किराया तो मुझे मिल भी गया !"

"कहाँ से मिला ?"

"वे बाबू साहब न दे गये थे?"

बालिका चकित-सी खड़ी रह गई। बुढ़िया ने युवक की प्रशंसा के गीत गाने प्रारम्भ कर दिये। बालिका ने पूछा—"क्या दे गये।"

"दस रुपये; साल-भर का पेशगी।"

"तुमने लिये क्यों?"

बुढ़िया ने विस्मित होकर बालिका की तरफ़ देखा—उसने कहा—"इसमें क्या बुरा किया?"

बालिका वहाँ न ठहरकर ऊपर चलदी। उसकी मुट्ठी में वह दो रुपये थे। उन्हें ख़ूब ज़ोर से मुट्ठी में दबाकर, वह धरती में लोटकर रोने लगी। मानो उसका हृदय फटा पड़ता था। आँसुओं का वेग नदी की भाँति बह चला!

ओह, वह कौन है? इतना सुन्दर—शरीर और मन दोनों से ऐसा दाता—उसने मेरा जीवन और इज़्ज़त दोनों की रक्षा की।

एक ही झोंक में वह बहुत-सी बातें सोचने लगी। वह अब बिलकुल अबोध बच्ची तो थी-नहीं, १६ वर्ष की युवती थी। वह अपनी परिस्थिति और दयनीय दशा को समझती थी। जो-जो बातें इस समय उसके मस्तिष्क में उमँड़ रही थीं, उन्होंने उसे अधिक रोने न दिया। वह आकर बैठ गई और सोचने लगी। वह चिर-विस्मृत विवाह का खेल, वह अति दूर का ससुराल-गमन, वह माता का प्यार और मृत्यु, वह विपत्ति के समुद्र में असहाय डूबना, और इस एक युवक के द्वारा एकाएक

ठीक कठिन समय पर उसका उद्धार होना—"आह, यदि वह ....।" युवती मानों कोई बहुत-ही भयङ्कर बात सोचने लगी। उसने दोनों हाथों से मुँह छिपा लिया। अब फिर उसका रुदन उमँड़ आया। हठात् उसके मुँह से निकल गया—"यह सब भाग्य का दोष है। भाग्य की रेख भी कितनी टेढ़ी, कितनी दुरूह और कितनी दुःसाध्य है!" हे परमेश्वर! मुझ दुखिया को जो दुःख था, वही बहुत था, अब यह नई विपत्ति कैसे सही जायगी?"

वह भूखी-प्यासी बालिका अब सब-कुछ भूलकर उसी युवक की स्मृति को बार-बार हृदय से निकालने की चेष्टा कर रही थी। मानो वही युवक तीर की गाँस की भाँति उसके कलेजे में घुस गया हो। कभी वह गम्भीर सोच में डूब जाती, कभी वह रोने लगती। कभी वह बेचैनी से उठकर टहलने लगती। हठात् उसे स्मरण आया—वे आज सन्ध्या को आवेंगे। कमीज़ तैयार रहनी चाहिये। मगर नाप? नाप तो कुछ मालूम ही नहीं। यदि ठीक न बैठी, यदि बिगड़ गई—तब तो बड़ी आफ़त है। बेचारी बालिका सब-कुछ भूलकर अब कमीज़ की नाप-जोख की फ़िक्र में पड़ गई। अब वह कमीज़ को सिये किस भाँति, और न सिये, तो अपने उपकारी उस सुन्दर उदार युवक की नाराज़ी कैसे सहे?

उसने कई बार क़ैंची ली, और रख दी। कपड़ा बिगड़ जाने का भी भय था। परन्तु वादे के अनुसार उसे कमीज़ तो तैयार कर

रखनी ही चाहिये । उसने साहस करके कमीज़ काट डाली, और अपने खाने-पीने की ज़रा भी चिन्ता न कर, वह कमीज़ सीने लगी ।

धीरे-धीरे सन्ध्या-काल आगया । बालिका ने कमीज़ तैयार कर, तह करके रखदी, और धड़कते हृदय से युवक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी ।

ज़ीने मे पद-ध्वनि हुई, और युवक सामने आखड़ा हुआ । बालिका खड़ी होगई । वह न स्वागत कर सकी—न एक शब्द मुँह से निकाल सकी । युवक भी कुछ न बोल सका । कुछ समय तक दोनों चुपचाप खड़े रहे ।

युवक ने पूछा—"कमीज़ तैयार होगई न ?"

"जी ।"

"ज़रा देखूँ ।"

बालिका ने कमीज़ हाथ में दे दी । युवक ने खोलकर देखा । एक मन्द हास्य की रेखा उसके होठों पर घूम गई । उसने कमीज़ की आस्तीन-गला नापकर देखा—बहुत ओछी थी । उसने झट-पट कोट उतारकर कमीज़ पहन ली । कमीज़ उसके जिस्म में फँस गई । युवक ने हँसकर कहा—

"बहुत ठीक, अब आठ दिन उपवास करके शरीर को छोटा करना पड़ेगा, तब यह कमीज़ ठीक बैठेगी ।"

बालिका लाज से गड़ गई । वह नीचा सिर किये खड़ी रही । थोड़ी देर बाद उसने कहा—"क्षमा कीजियेगा, मैं आपका

नाप न ले सकी, इसी से ऐसा हुआ। आप मेरी मज़दूरी से इसके दाम काट लें, और कृपाकर अपनी कमीज़ दे जायँ, जिसके नाप से और कमीज़ें सी दी जाँय।"

"दाम काटने की बात तो पीछे देखी जायगी। पर कमीज़ मैं तुम्हें दे जाऊँ, तो क्या नंगा घर जाऊँ?" युवक हँस पड़ा। बालिका ने मधुर स्वर में कहा—"कल कष्ट करके आप एक और कमीज़ दे जाइयेगा।"

"अब कल आना तो आफ़त है। नहीं तुम नाप ही न ले। लो, जब मैं ही यहाँ खड़ा हूँ, तब कमीज़ क्या करेगी?"

बालिका भयभीत-सी होगई। राम-राम—क्या वह उस युवा पुरुष के शरीर पर नाप ले! क्या इसमें स्वार्थ होना सम्भव नहीं? और-और—नहीं-नहीं, ऐसा तो वह कर ही न सकेगी।

बालिका को पसोपेश में पड़ते देख, युवक ने कहा—"नहीं तो जाने दो, कपड़ा वापस दे दो, कमीज़ें अन्यत्र सिल जावेंगी।"

बालिका ने कातर नेत्रों से युवक को देखा—वह कुछ बोली नहीं। होठ काँपे, मगर स्वर न निकला।

युवक के शरीर में एक विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न हो रहा था। उसने कहा—"सुशीला, तुम सिलाई का काम करती हो, परन्तु बिना नाप-तोल किये यह काम चलेगा कैसे?"

सुशीला ने कहा—"आपको मैंने कह तो दिया ही है, मैं दुखिया हूँ, और बहुत ग़रीब हूँ, वे दो रुपये तो रखे हैं, पर जो कमीज़ ख़राब होगई है, उसके बदले दाम देने को मेरे पास

कुछ नहीं है। अगर मज़दूरी न करूँगी, तो भरपाई कैसे होगी? आप कृपा कर, मुझे कमीज़ें सीने दीजियेगा—कल कष्ट करके एक कमीज़ दे जाइयेगा।"

युवक स्थिर न रह सका। उसने ज़रा आगे बढ़कर कहा—"क्या कहा? वे दो रुपये रखे हैं! तुमने उन्हें ख़र्च नहीं किया? अच्छा बताओ, अब तुमने खाया क्या है? बताओ—जल्दी बताओ।"

बालिका कहती क्या? क्या झूठ बोलती? अपने कृपालु उद्धारक के सामने यह सम्भव ही न था, फिर क्या सत्य कहती कि तीन दिन से अन्न का दाना उसके मुख में नहीं गया है? ना, यह सम्भव न था। वह चुपचाप खड़ी धरती को देखती रही।

युवक ने और ज़रा आगे बढ़कर कहा—'सुशीला!"

बालिका धरती की ओर देखती रही।

युवक ने फिर कहा—"सुशीला! बहन!"

बालिका ने दृष्टि उठाई। उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक गये। युवक ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—"मेरी अभागिनी ग़रीब बहन, तुम्हें ईश्वर की सौगन्ध है, कह—कब से भूखी है?"

सुशीला की आँखों से आँसू बह चले। वह बोल ही न सकी। युवक ने कहा—"तेरे होंठ सूख रहे हैं, शरीर काँप रहा है, रंग पीला हो रहा है। सच बोल—तैंने कब से नहीं खाया? तुझे बताना पड़ेगा—तुझे मेरी क़सम···।"

"आह, क़सम न दीजिये—" सुशीला के मुख से चीख़ निकल गई। उसने कहा—"मैंने परसों से कुछ नहीं खाया है।"

युवक ने कहा—"मैं तुम्हें रुपये दे गया था।"

"मैं उतने की मज़दूरी बिना किये उन्हें कैसे काम में ला सकती थी?"

"और यदि किरायेवाली को देने पड़ते?"

'किरायेवाली पर मेरा बस न था, पेट पर तो मेरा बस है।'

युवक के नेत्रों में आँसू भर आये। वह चुपचाप बाहर आया—और थोड़ी ही देर में बाज़ार से कुछ खाने का सामान लेकर आगया। सामग्री को धरती पर रखकर उसने कहा—

"सुशीला, मेरी एक और बहन थी, पर तुमसे बहुत छोटी—उसकी स्मृति ही मेरे लिये संसार में सत्य है, शेष सब असत्य है। मेरे माँ नहीं—पिता हैं, आज मैं सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर के समक्ष साक्षी करके कहता हूँ कि तू वैसी ही मेरी बहन हुई। मैं अपनी स्वर्ग-वासिनी माता के प्राणों की भी शपथ खाता हूँ, कि इस जन्म में तू सदा मेरे जीते-जी बहन रहेगी। बस, अब दो-पने को भाव की ज़रूरत नहीं। ले, अभी मेरे सामने बैठकर खा। अभी खा।" इतना कहकर युवक बिना ही किसी प्रकार के उत्तर की प्रतीक्षा किये धरती पर बैठ गया, और सुशीला का हाथ पकड़कर उसने अपने पास बैठा लिया।

सुशीला ने आँख फाड़कर देखा। वह कुछ समझ ही न सकी। पर वह न बोली, न रोई, धम-से बैठ गई।

"खा।"

"आपने यह क्या किया?"

"आप-आप न कर।"

सुशीला संकोच में बैठ गई। युवक ने कहा—"खा।"

"अभी मुझे भूख नहीं।"

"अभी खा, मैंने कहा न, अपने सामने खिलाऊँगा।"

सुशीला चुप रही।

"मुझे दुख क्यों देती है?"

"आप······"

"फिर आप······यहाँ 'आप' कौन है?"

सुशीला ने झिझकते हुए कहा—"तु-तुम कुछ खालो, मैं पीछे खाऊँगी।"

युवक ने क्रुद्ध होकर कहा—"तो अब मैं रोता हूँ।"

"मैं हाथ जोड़ती हूँ, ज़िद न करो।"

"मेरी अच्छी सुशीला—खा ले।"

"पहले तुम······"

"अच्छा, हम दोनों ही खायँगे।"

पाठिकाओं, दोनों ही ने साथ भोजन करना शुरू किया। तुममें से कितनी इस ढीठ बालिका को दोष देंगी, और कितनी उस युवक को? परन्तु तुम्हें कोई ऐसी दुरवस्था में ऐसा हठी भाई मिले तब?

खा-पीकर सुशीला ने युवक के हाथ धुलाकर, उसके निकट

आकर युवक के पैर छुए। वह इस बार सिसक-सिसककर रो उठी, और फिर धरती में गिर गई। वह कुछ कहना चाहती थी—पर कह न सकी।

युवक भी रो रहा था। यह रुदन कितना प्रिय, कितना मधुर और कितना पवित्र था—इसे कौन बताये? सुशीला ने कहा—"भाई, तुम्हें ईश्वर ने इस अभागिनी की रक्षा को भेज दिया—यह क्या अच्छा हुआ? तुम किस बड़े घर के लाल हो इस कुलच्छनी अभागिनी के लिये क्या-क्या आफ़त उठाओगे?"

युवक की आँखों से आँसू जारी थे। उन्होंने उसका हाथ पकड़कर पास बैठा लिया। फिर कहा—"सुशीला! हमारी माता बड़ी पवित्र दयाशीला थीं। क्या तुम कभी कल्पना कर सकती हो? वे कहती थीं—'हमारी एक बिटिया भगवान् ने ले ली।' उसके वे बड़े गुन गाया करती थीं। वे सदा कहतीं—'मेरी बेटी अब तक घर-बार की होगई होती।' मुझे आज तुम मिल गईं। क्या हमारी माता हम लोगों को न देखती होंगी। यह देखो—" उसने जेब से माता का फ़ोटो निकालकर सुशीला को दिखा दिया। सुशीला उसे एकटक देखती रही। युवक ने फिर कहा—

"सुशीला, यदि माता जीवित होतीं—तो तुम्हें प्यार करतीं, पर अब तो वह काम मुझे करना पड़ेगा; मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। तुम्हें मेरे साथ घर चलना पड़ेगा। एक महीने बाद ही छुट्टियाँ हैं। तब तक तुम्हें और यहीं रहना पड़ेगा, पर कष्ट न पाना, मैं नित्य ही आऊँगा।"

इतने में मज़दूर बहुत-सा आटा, दाल, घी-सामान लेकर आगये। सुशीला ने पूछा—"यह क्या ?"

"होता क्या—पेट-पूजा की बात।"

"यह इतना कौन खायगा ?"

"सुशीला खायगी।"

"इतना उसके पेट में समायगा ?"

"जो बचेगा, उसे भाई खायगा, भाई को भीमसेन से कम न समझना।"

सुशीला हँस पड़ी। युवक को चाँद मिल गया। मज़दूरों को पैसे देकर उसने विदा किया। उसके बाद वह उठ खड़ा हुआ। सुशीला ने कहा—

"कल कमीज़ लेते आना।"

"अच्छी बात है। मगर सिलाई ?"

सुशीला फिर हँस पड़ी। युवक एक बार आनन्द का प्रश्वास ले, जल्दी-जल्दी सीढ़ी से उतर, होस्टल की ओर लपका। इस बीच में रात होगई थी।

आठवाँ परिच्छेद

पाठक उस सप्त-वर्षीया हत-भागी बालिका को भूले न होंगे। उसका भाग्य फूटे डेढ़ वर्ष होगया है। इसके बीच में उसके पिता और भाई ने कई बार उसे घर ले जाने की चिट्ठी भेजी

है, पर कोई उत्तर उनको नहीं दिया गया। बालिका के सास-ससुर मानो उनको अब अपना सम्बन्धी ही नहीं समझते। उनकी धारणा है, कि हमारे पुत्र के मरने में सब से अधिक अपराध इस कुलच्छिनी बहू का ही है। ब्याह में जो ख़र्च हुआ था, उसे याद करके रमाकान्त और भी आग-बबूला होजाता है। सारे परिवार ने मिलकर यही ठान ली है, कि इस खसम-खानी राँड से ही सब बातों का बदला लिया जाय। इसी के अनुसार काम भी होता था। बालिका अपनी जननी की सुखमयी गोद से अलग होकर, अपने पिता के दुलार से वञ्चित होकर, साथ-ही पति के सौभाग्य को खोकर सब की ही कोपभाजन हुई है, और इसी नन्ही अवस्था में असह्य यातनाएँ शरीर पर झेल रही है।

पहले वह झिड़की या गाली सुनकर रो उठती थी, पर अब चुपचाप सुन लेती है। उसे नित्य सब से प्रथम ४ बजे उठना पड़ता है, और बारह बजे सोना मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा कभी भी उसका परित्राण नहीं है। पहले उसको इसमें कष्ट होता था, सारा शरीर थककर चूर-चूर होजाता था, पर अब वह बात नहीं है—उसे उसका अभ्यास होगया है। रस्सी और जलती हुई लकड़ियों की मार से प्रथम उसे बड़ा दर्द हुआ करता था, और वह घण्टों रोया करती थी, पर अब दर्द नहीं होता है। शरीर वैसा ही बन गया है, और आँसू भी कम निकलते हैं। क्या जाने हैं भी या नहीं? असल बात यह है, कि मनुष्य का मरना हँसी-खेल नहीं है। जिन दुखों को मनुष्य मृत्यु से बढ़कर

असह्य समझता है, आश्चर्य की बात है, कि उनको निरन्तर सहने का अभ्यास तो कर लेता है, पर मरने से फिर भी डरता है। बात बड़ी ही अद्भुत है—पर सच्ची है। नारायणी को प्रथम तो मृत्यु का ज्ञान ही न था—वह दुख से बचने को बहुत छट-पटाती थी। पर न-मालूम किसने उसे सिखा दिया, कि मृत्यु की गोद में अच्छी शान्ति मिल जाती है। बालिका उस शान्ति के लिये ललचा तो उठी थी, पर यह न समझ सकी, कि अन्ततः मृत्यु से भेंट होगी क्योंकर! परन्तु जिस अतर्क्य-शक्ति ने उसे इस अवस्था में इतना ज्ञान कर दिया था, उसने यह भी समझा दिया, कि घटना-चक्र से वह स्वयं ही धीरे-धीरे उसी शान्तिदायिनी मृत्यु की ओर अग्रसर हो रही है—जिस पर उसका जीवन आप ही लटक रहा है। वही मृत्यु का पथ है—यह समझकर वह अद्भुत धीरज, अगम्य शान्ति और आश्चर्यजनक सहनशीलता से उस भयानक पथ पर बढ़ी चली जा रही थी। बालक पति के मरने के बाद बालिका विधवा का जीवन ऐसा ही अद्भुत, बीभत्स और भयानक हो रहा था !!

पाठक ! हमारी यह कहानी एक-दम कहानी नहीं है। विश्वास रखिये, कि दया-धाम हिन्दू-धर्म के पवित्र पर्दे में छिपी असंख्य बालिकायें—ऐसी ही कठिन और उग्र तपस्या कर रहीं हैं। तिस पर भी हम उन्हें अबला कहकर अपमानित करने में लज्जित नहीं होते ! अपार शारीरिक कष्ट के मर्मच्छेदी तीर, घोर मानसिक ताप की भयंकर ज्वाला, और दुस्सह अनादर और

कड़ी मार को बिना प्रतिकार के धीर भाव से जन्म-भर सह सकने की शक्ति जिस साढ़े आठ वर्ष की बालिका में है—उसे नगण्य समझकर हम क्या अपने हृदय के गौरव-रक्षा कर रहे हैं?

ऐसे ही दयालु हिन्दू-धर्म की उदारता, दया और प्रेम का आस्वादन अभागिनी बालिका नारायणी अपनी ससुराल में कर रही थी। हाड़-मांस के शरीर से और कहाँ तक सहा जाता? अन्ततः वह खाट पर गिर गई, और अब उसे दीख गया, कि वह शान्तिदायिनी गोद जिसके लिये उसे देर से लालसा थी, प्राप्त होने में देर नहीं है। यह बात घर के लोग भी जान गये थे, पर कोई उसके लिये विशेष दुखी न था—कोई-कोई तो नित्य यह प्रार्थना करते थे कि भगवान् इसे उठा ही ले। निदान, नारायणी के कान में ज्यों-ही यह पड़ा, वह धीरज से उस दिन की बाट जोहने लगी, पर उसकी इच्छा पूर्ण न हुई। उसके ससुरालवालों ने जब देखा, कि अब इसका बचना कठिन है, तो उन्होंने हारकर जयनारायण को चिट्ठी लिखकर बुलाया, और हरनारायण अपनी बहन को लेने तुरन्त चल दिया।

दस बजने में दो-चार मिनट की देर है। हरनारायण अपनी बहन को ससुराल से लेकर आज तीसरे पहर आये हैं, उनका मुँह बड़ा उदास है। तब से अब तक उन्हें भीतर जाने का अवकाश नहीं मिला है। भोजन भी पिता-पुत्र ने नहीं खाया है। नारायणी के ससुरालवालों का अत्याचार और पशु-भाव देख-सुनकर ही उनका पेट भर गया है। जयनारायण कभी लम्बी

साँसें खींचते, कभी दो बूँद आँसू बहाते हैं! बैठक में और दो-चार मनुष्य बैठे थे। दैव-विपाक पर विवशता और धीरज की दो-चार बात कहकर वे भी एक-एक करके खिसक गये हैं। पिता-पुत्र कुछ देर स्तब्ध बैठे रहे। तब जयनारायण ने कहा—"जाओ बेटा, अब तुम भी आराम करो, रास्ते की थकावट है।"

हरनारायण धीरे-धीरे उठकर अपने शयनागार में आपहुँचे। शयनागार में भी सन्नाटा था—हरदेई पलँग पर दरवाज़े की ओर पीठ किये पड़ी थी। उसकी इस निद्रा में कितना भाग मान था और कितना मकर था, सो भगवान् ही जाने।

हरनारायण ने क्षण-भर अपनी स्त्री की ओर देखकर कहा—"क्या सोगई?"

हरदेई चुप रही।

हरनारायण ने अब की बार हाथ पकड़कर कहा—"ज़रा उठो तो।"

हरदेई ने ज़रा कुनमुनाकर कहा—"क्या है?"

"क्या जाने क्या है, तुम्हारी नींद भी छकड़े में चलती है।"

हरदेई उठ बैठी—कुछ सुस्ताकर और दो-एक जम्हाइयाँ लेकर उसने ताने के ढँग पर कहा—"तुम्हें फ़ुरसत मिल गई ज़माने-भर की बात-चीत से?"

"नीचे बैठक में दो-चार आदमी आ बैठे थे—सो आना नहीं हुआ; और अभी दस ही बजे हैं—पर तुम्हारी नींद का भी कुछ ठीक है?"

"मेरी नींद तो तुम्हें खटक गई— पर तुम तनिक चार-चार घण्टे अकेले बैठ कर देखो—नींद आती है, या नहीं। ऐसी क्या कमाई करके लाये हो, कि घर आने-बैठने की फुरसत ही नहीं मिली?" यह कहकर हरदेई ने वक्र दृष्टि से पति का तिरस्कार किया।

हरनारायण ने कपड़ा उतारते-उतारते कहा—

"तुम्हारी कैसी बुरी आदत है! ज़रा आदमी की तबियत देखकर नाराज़ हुआ करो, बात-बात में झक-झक अच्छी नहीं होती। लो, यह कोट खूँटी पर टाँग दो।"

हरदेई ने कोट लेकर खूँटी पर रखते-रखते कहा—

"मेरी बात तुम्हें सुहाती होगी? सीधी बात कहूँ, उल्टी लगे।"

हरनारायण ने कुछ जवाब नहीं दिया। वे चुपचाप कपड़े उतारकर चारपाई पर लेट गये। हरदेई भी कुछ बड़बड़ाकर पंखा लेकर खड़ी होगई।

हरनारायण ने कुछ ठण्डे होकर कहा—"खड़ी क्यों हो? बैठ जाओ न?"

"मैं अच्छी तरह खड़ी हूँ........."

"क्यों, ऐसी उदास क्यों हो?"

"कहाँ? उदासी हो—मेरी जूतियों को! मुझे परवाह किसकी है? मैं क्या मोल ख़रीदी आई हूँ, या कोई कुजात हूँ?"

"वाह-वा! तुम्हारा मिज़ाज तो बिखरा ही जाता है। कहता कौन है, कि तुम मोल आई हो?"

"तुम्हें किसी की सुनने की फुरसत ही कहाँ है? पहले पास-पड़ौसी और बाप-बेटों की सलाह ख़तम होजाय, तब न? राम जाने कहाँ के क़िले फ़तह करते हैं।"

"इतनी देर ही में तुमने ऐसी लम्बी-चौड़ी बातें कह दीं—पर असल बात तो रह गई। ननद-भावजों में लड़ाई हुई मालूम होती है! जाते-जाते इतना कह गया था, कि मिलकर रहना—भगवती से लड़ना नहीं।"

हरदेई की आँखों में आँसू भर आये। उन्हें आँचल से पोंछ-कर वह कहने लगी—

"तुम्हारे घर में सब दूध-धोये हैं—लड़ाका तो एक मैं ही हूँ। फिर तुम मुझे यहाँ से निकाल क्यों नहीं देते? सबेरे ही छज्जू मिस्सर को बुलाओ, मैं तो अपने बाप के यहाँ चली जाऊँगी—तब अपनी भोली-भाली बहनों को लेकर रहना। बस, आँख फूटी, पीर गई। रोज़ की झक-झक तो न रहेगी।"

"सस्ते छूटे। नैहर में ही रहना था, तो तुमने ब्याह क्यों किया? मज़े से वहीं रहतीं न!"

"ब्याह के लिये खुशामद किसने की थी? तुम्हीं न लूलू का साँग बनाकर हमारे द्वार पर गये थे?"

इस लूलू के स्वाँग की बात पर हरनारायण को क्रोध आते-आते हँसी आगई! उसी हँसी में वे बोले—

"ख़ूब याद रक्खी भई,—वह स्वांग की बात तो। (हाथ पकड़कर) अब चलो, रहने दो—मिज़ाज ठण्डा करो। आदमी

को चाहिये, जैसी पड़े, भुगते। तुम्हीं बताओ, इन बेचारियों का अब धरती-आसमान पर है कौन? अब तो इन्हें तुम्हारा ही आसरा है। दुक्खम-सुक्खम जैसे बने, रखना ही पड़ेगा।"

उकताकर हरदेई बोली—

"तो तुम्हें रोकता कौन है? पर मैं साफ़ ही कहती हूँ, मुझसे तो न रहा जायगा। (आँसू पोंछकर) ज़रा-सी लड़की मेरे सुहाग को कोसेगी! काम-धन्धे को तिनके का सहारा नहीं, और खाने को चाहिये छः बार। ये हड्डियाँ हैं—इन्हें पीसे जाओ। दो बूढ़े-बुढ़िया, दो धी—यही बहुत हैं। रही लुगाई, सो उसे अफ़ीम-संखिया खिलादो—बाल-बच्चों का गला घोट दो!"—बस, इतना कहकर हरदेई ने गम्भीरता से एक लम्बी साँस छोड़ी।

हरनारायण दुखी होकर बोले—

"तो क्या करूँ? इन्हें फाँसी लगा दूँ?—या भीख माँगने को छोड़ दूँ? दर-दर भीख माँगते ये अच्छे लगेंगे?"

"ना—उन्हें तो रानी बनाओ, भीख माँगते तो बच्चे अच्छे लगेंगे, जिनकी सूरत भंगी-चमारों से भी बदतर हो रही है—न धोती न कुरता। एक छल्ला मेरे पास नहीं रहा—ब्याह-टेहले में कुटुम्ब-परिवार की चार औरतों में जाते लाज से मर जाती हूँ। उनकी टहलनी भी मुझसे अच्छी लगती है। ख़ैर! मुझे तो भाड़ में जाने दो, पर अपनी सूरत देखो—दस जगह से गठा हुआ फिक्क जूता घसीटते फिर रहे हो! आँखें गढ़े में धस गई हैं, मुँह काला पड़ गया है। ४९) तनख़्वाह मिलती है। सवेरे इलक़

से रोटी उतरते देर नहीं होती कि कोट के बटन लगाते-लगाते दफ़्तर दौड़ो। वहाँ से मरे-खपे २ मील धूप में चलकर घर ४ बजे आये। न तन की सुध न बदन की! फिर हाँपते-हाँपते ट्यूशन पढ़ाने भागो, रात को बारह-बारह बजे तक दफ़्तर के काग़ज़ों में आग लगाओ। फिर खून पिला-पिलाकर बहनों को पालो। मैं घर में चार बजे से रात के बारह बजे तक कोल्हू के बैल की तरह पिसा करूँ, और काँय-काँय करती इधर से उधर फिरूँ?—और तुम्हारी सीधी-साधी बहन किताबों में सिर फोड़ा करें। न-जाने किस दफ़्तर में जाकर नौकरी करेगी? तिस पर तुर्रा यह है कि 'करनी-ना-करतूत और लड़ने को मौजूद'—यह ज़िन्दगी है? यह तो जान का जंजाल है। भगवान् उठा ले इस धरती से।" इतना कहकर हरदेई डुसुक-डुसुककर आँसू बहाने लगी।

हरनारायण से चारपाई पर लेटे न रहा गया। वे उठकर कमरे में टहलने लगे। हरदेई फिर बोली—"अब दूसरी को लिये आ रहे हैं—मुर्दा हाल में। निपूते सुसरालवाले भी देखो—भले के भले रहे। बीमार पड़ी, तो यहाँ भेज दी। अब वैद्य-डॉक्टरों की हाज़िरी बजाना। पसीना बहा-बहाकर कमाओ, और इस तरह उड़ाओ।" इतना कहकर हरदेई पुनः चुप होगई।

हरनारायण बहुत दुखी हो रहे थे। हम नहीं कह सकते, इस दुःख में क्रोध की मात्रा अधिक थी, या लाचारी की, पर कुछ ठहरकर उन्होंने धीमे स्वर से कहा—

"देखता हूँ, तुम मुझे पागल बनाये बिना न छोड़ोगी।"

"यह तो तुम्हारी करनी का फल है।"

"आँखों देखे साँप किससे निकला जाता है? नारायणी को न ले आता, तो करता क्या? पहचानी भी नहीं पड़ती। जब मैं पहुँचा, तो बुखार में बेसुध पड़ी थी, मुँह लाल हो रहा था। इसी दशा में ६ दिन से पड़ी थी। किसी को उसकी सुध न थी; हारकर मैंने डॉक्टर बुलाया। वे देखकर बोले—"इसे तो दिक़ का असर होगया है। दो दिन तक दवाई दी गई, तब होश में आई। बुखार भी हलका पड़ा। पर खाँसी चैन नहीं लेने देती है। बुखार हरदम बना रहता है। जिगर ख़राब होगया है। तिस पर देखो, मार के मारे कमर नीली होई पड़ी है। उसे मरी-जीती को पूछनेवाला तो कोई था ही नहीं—बोलो, न लाता, तो क्या करता?" यह कहते-कहते उन्होंने अपने आँसू रोके।

इस बार हरदेई का स्त्री-हृदय भी तनिक विचलित हुआ, पर अपनी धुन में तनकर वह बोली—

"अच्छी बात है—तुम उसे सञ्जीवन घोटकर पिला देना, इस अभागिनी के जीने में अब क्या सुख है? जब इसका सुहाग ही फूट गया है, तो अब तो भगवान् उसकी मिट्टी सँभवा लें।"

हरनारायण की आँखे जलने लगीं। उन्होंने क्रोध से घूरकर स्त्री की ओर देखा, और काँपती आवाज़ में बोले—"जो तुम्हें वैसी ही अभागिनी बनना पड़े, तो तुम ज़हर खाकर मर जाना—अच्छा! सुहाग-फूटी दुनियाँ में रहती थोड़ा ही हैं, और न उन पर

कोई दया करता है! संसार में सब तुम-सी सुहागिन मर रही हैं—क्यों?

हरदेई तैश में आकर कुछ कहना चाहती थी, कि हरनारायण ने डपटकर कहा—"चुप रहो—चक-चक करके मेरा दिमाग़ मत खपाओ। ज़रा सोने दो। तीन दिन से कमर नहीं झुकी है। हटो परे हो—कलहनी कहीं की!"

मानिनी हरदेई अपने पति का यह कटु तिरस्कार न सह सकी। वह वहीं बैठकर टुसुर-टुसुर रोने लगी। हरनारायण भी खाट पर पीठ फेरकर पड़ रहे। क्या जाने, नींद से उनकी कैसी पटी।

नवाँ परिच्छेद

—:o:—

इस परिच्छेद में हम संक्षेप से पाठकों को जयनारायण की स्थिति का परिचय देते हैं। जयनारायण की अवस्था ४० वर्ष को पार कर गई थी। जब इनके पढ़ने के दिन थे, तब इनके गाँव में न विद्या का वैसा चमत्कार था, और न पढ़ने का सुभीता ही था। फिर भी इन्होंने किसी तरह से पास के तहसीली स्कूल से उर्दू-मिडिल पास करके पटवारगिरी का इम्तहान दिया। दो बार फ़ेल होकर पास हुए, और ८) रु० पर बहाल हुए। अब उन्हें १२) मिलते हैं, पर पटवारियों को तो पाठक जानते ही हैं।

ऐसी-ऐसी तो बारह तनख़्वाह दिन मिलते-मिलते कितनी बार जेब में पहुँच जाती हैं। जो हो, पर फिर भी जयनारायण भला मनुष्य और सरल वृत्ति का आदमी था। उसकी बोल-चाल, व्यवहार सब में शराफ़त और खरापन था। यद्यपि वह पुरानी लकीर का फ़क़ीर था, पर एकदम अन्ध-विश्वासी न था। जाति-बिरादरी के प्रवाह में पड़कर सब काम करता अवश्य था, पर मन में ताक रखता था। बड़ी लड़की के विधवा होजाने पर उसकी इच्छा छोटी लड़की की शादी देर से करने की थी, पर उसकी स्त्री ने हठ करके बिरादरी और धर्म-आदि का भय दिखाकर अपनी बात रखी। अन्त में उसको व्याह करना ही पड़ा। पर खेद की बात है, कि बेचारे पर सात महीने में ही वज्र टूट पड़ा। इस सदमे से उसे भयङ्कर कष्ट, और आत्म-ग्लानि हुई। उसको यह कन्या अत्यन्त प्यारी थी, पर आज वह यह चाहने लगा, कि यह अभागिनी मर क्यों न गई?

उसकी गृहस्थी जैसी छोटी थी, और जैसा उसे आमदनी का सुभीता था, उससे वैसा कोई कष्ट न था। तिस पर वह हर बात में ध्यानपूर्वक ख़र्च करता था, इससे उसे पैसे का कभी अभाव न होता था। इसके सिवा ४६) रु० उसका लड़का तलब पाता था। इस प्रकार उन्हें वैसा अर्थ-कष्ट न था, पर दोनों कन्याओं को जन्म-भर खिलाने की बात याद करके कभी-कभी वह अत्यन्त चञ्चल हो उठता था। ज़माने का रंग-ढंग देखकर और सब तरह की ऊँच-नीच विचारकर वह कुछ उत्तेजित होता, और साहस भी

करता, पर भाई-बिरादरी और दूसरे विचार आते ही शिथिल पड़ जाता था। कभी-कभी वह सोचता था, कि जब तक ज़िन्दा हूँ, तब तक तो चलेगा, पर मेरी आँखें बन्द होने पर इन अभागिनी कन्याओं का क्या होगा? यह किसका मुँह तकती फिरेंगी—किस-किस की ग़ुलामी करती फिरेंगी? ऐसी-ऐसी चिन्ताओं से वह घुला जाता था!!

जयनारायण के पड़ौस में एक बाबू रामचन्द्र रहते थे। वह आर्य-समाज के एक साधारण सभ्य थे। पहले कहीं रेल्वे में ४०) रु० वेतन पाते थे। पर उसे छोड़कर उन्होंने अब कपड़े की दूकान कर ली है। वह बड़े शिष्ट, सज्जन और मिलनसार थे—जयनारायण से इनकी और भी घनिष्टता थी। एक दिन जयनारायण बैठे-बैठे अपने दुर्भाग्य की चिन्ता कर रहे थे। इतने में रामचन्द्र ने बैठक में प्रवेश करते-करते कहा—"नमस्ते दीवानजी!"

जयनारायण ने मुँह उठाकर देखा, और उठकर कहा—"आइये-आइये।" "हाज़िर हुआ"—कहकर वह पास ही बैठ गये। थोड़ी देर में इधर-उधर की बात-चीत करते-करते रामचन्द्र ने कहा—"नारायणी कैसी है?"

"अब तो आराम है! कुछ खाँसी बाक़ी है, कभी-कभी ज्वर भी होजाता है, पर बहुत कम।"—इतना कहने के बाद एक ठण्डी साँस लेकर उन्होंने कहा—"निश्चय जानो भाई, वह मरेगी नहीं—मरने का सुख उसके भाग्य में बदा होता, तो यह दिन ही क्यों देखती?" इतना कहकर उन्होंने दाँत निकालकर

मुसकराने की चेष्टा की, पर चेष्टा व्यर्थ गई। उनकी आँखों में आँसू छलछला ही आये।

रामचन्द्र ने सहानुभूति से उनका हाथ पकड़कर कहा—"दीवानजी ! ऐसा क्यों दिलगीर होते हो ? आप बुज़ुर्ग आदमी हैं, ईश्वर की जो इच्छा थी, सो होगई, अब तो उसका मूल-परिशोध जो हो सके, करना चाहिये। इस तरह करने से कैसे बनेगा ?"

"इसका परिशोध ? भाई साहब, जो इसका परिशोध हो सकता, तो प्राण देकर भी करता। पर अब क्या हो सकता है ? सचमुच उसका भाग्य फूट ही गया है। न-जाने पूर्व-जन्म में उसने कैसे-कैसे पाप किये थे ?"

रामचन्द्र उत्तेजित होकर बोले—"दीवानजी ! कैसे दुःख की बात है, कि आपके मुख से भी ऐसी पोच और रद्दी बात सुनता हूँ। मनुष्य अपनी कुटेव और अन्ध-विश्वास-द्वारा हानि उठाता है, पर सब दोष विधाता और भाग्य को देता है। यह कैसे अन्धेर की बात है ! आँख लग गई, रेल छूट गई—बस, क़िस्मत में यही लिखा था। किसी की गाँठ कतर ली, पकड़े गये—यह भी क़िस्मत में लिखा था। यह केवल कायरों, डरपोकों और मूर्खों का उत्तर है। कोई किसी का ख़ून करके कहे, कि इसका मरना यों-ही लिखा था, तो क्या सरकार छोड़ देगी ? इसी से क्या उसका पिण्ड छूट जायगा ? ख़ूब ! 'आप बदकारी करें, नाम लें अल्लाह का ! एक ही बदज़ात

हैं, बदज़ात बादमज़ात की !!"—इतना कहकर रामचन्द्र चुप हो-गये। उनके नेत्रों से उद्वेग टपका पड़ता था। जयनारायण काठ-पुतली की तरह उनकी बातें सुन रहे थे। मानों उनका अपराध मूर्तिमान् उनके सामने खड़ा कर दिया गया था।

रामचन्द्र फिर कहने लगे—"विचार तो कीजिये—आपने ही अपनी पुत्री को पैदा किया, आपने ही उसे पाल-पोसकर बड़ा किया, वह सुकुमारी आप ही के हृदय से प्यार से लगी रही। आप ही ने उसकी बचपन में शादी करदी—इसलिये कि ऐसा न करने से कुछ लोग आपकी ओर उँगली उठाते, ताना मारते। अतएव आपने अपनी पुत्री का भला न देखकर इस इतनी-सी बात के लिये उसे अयोग्य अवस्था में ब्याह दिया। दुर्भाग्य वह कुछ दिनों में विधवा होगई। अब वह अच्छे-अच्छे वस्त्र नहीं पहन सकती, शादियों में शरीक नहीं हो सकती, जहाँ और स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस रही हैं, नाच-रँग में आनन्द करती हैं, आपकी प्यारी पुत्री उसी घर के सड़े कोने में पड़ी सिसक-सिसक-कर रो रही है। वह स्वयं रोना नहीं चाहती, उसके ये आँसू प्यारे पति के शोक में नहीं हैं; क्योंकि वह क्या पदार्थ है, यह तो उसे अभी ज्ञात ही नहीं है। उसके मन में रह-रहकर अन्य लड़कियों के साथ मिलकर खेलने की, दिल खोलकर हँसने की, चिड़ियों की तरह इधर-उधर फुदकने की इच्छा होती है, पर ऐसा करने से आप ही उसे रोकते हैं, कि लोग आप पर हँसेंगे। आप ही उसे रुलाते हैं, और आप ही उसे जन्म-भर रुलावेंगे।"

इतना कहते-कहते रामचन्द्र बहुत उत्तेजित हो उठे थे। उन्होंने देखा—जयनारायण आँखें फाड़-फाड़कर मुँह पसारे उनकी ओर देख रहे हैं। उनके नेत्रों में भयङ्करता छा रही है।

रामचन्द्र फिर कहने लगे—"हमारे घर में—हम हिन्दुओं के घर में, नित्य एक-न-एक तिहवार आया करता है। हमारी स्त्री और माता तक पैरों में महँदी लगाये, उबटन मले, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहने, और हमारी पुत्री देख-देखकर तरसा करे। उसे जन्म-भर इसी तरह रहना चाहिये। वह कभी अपने पति का दर्शन नहीं कर सकेगी! वह कभी अपने प्यारे पुत्र का मुख-चुम्बन नहीं कर सकेगी! उफ़्! बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक उसे उसी हीन अवस्था में रहना होगा। नित्य रोना, तिरस्कार, धमकी, अपमान सहना, साथ ही कामदेव के कठिन बाणों को सहकर युवावस्था ही क्यों—सारा जीवन व्यतीत करना है। यह सब उसके भाग्य में लिखा है? उसे इस तरह रहना क्यों पड़ता है? इसलिये ही कि आप उसे इस तरह रहने पर मजबूर करते हैं—ज़बर्दस्ती करते हैं, अत्याचार करते हैं।" इतना कहते-कहते रामचन्द्र आपे से बाहर होगये। कुछ ठहरकर उन्होंने सिर उठाकर देखा, तो जयनारायण दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर फूट-फूटकर बालकों की तरह रो रहे थे। दुःख से मानों उनका कलेजा मुँह को आने लगा था।

उनकी शोचनीय दशा में देखकर भी बाबू रामचन्द्र की उत्तेजना कम न हुई। उन्होंने उस कातर व्यक्ति की ओर

ज्वालामय नेत्रों से देखते हुए कहा—"कहिये तो सही, इन सब घटनाओं में पूर्व-जन्म का दोष है, या आपका ?—और अब भी उसकी दशा बदल देना आपके हाथमें हैं, या भाग्य के ?—उसके विधाता, उसकी क़िस्मत के लिखनेवाले आप हैं, या और कोई ?"

जयनारायण से न रहा गया। उन्होंने पागलों की तरह चिल्लाकर कहा—"मैं—सचमुच मैं ही हूँ। मैं पिशाचों का पिशाच, और क़साइयों से भी ज़ालिम हूँ। अपनी प्यारी बेटी को मैंने ही डुबोया है। हाय !"—इतना कहकर वह फिर रोने लगे।

रामचन्द्र फिर कहने लगे—"यदि आपको उसकी घोर विपत्ति में सहानुभूति प्रकट करनी है, उसकी कष्ट की बेड़ी काटनी मन्ज़ूर है, तो फिर-से उसका विवाह कर डालिये, और देखिये, कि इसके पूर्व-जन्म के संस्कार भाग जाते हैं, और आपको स्वतन्त्रता से काम करने का अवसर मिल जाता है। यदि आप अपनी पुत्री का विवाह बचपन में न करके, जवान होने पर करते, फिर देखते कि परोत और नाई की अटकल, और ज्योतिषियों की कुण्डली और भाग्य का फेर ठीक बैठता है, या आपका कर्म !"

जयनारायण ने अत्यन्त कातर दृष्टि से उनकी ओर देखते-देखते कहा—"यह सब क्या सम्भव है ? रामचन्द्र बाबू ! मुझ-अकेले की जान पर बीतेगी, तो नर्क की भयानक आग में भी

कूद पड़ूँगा, पर इन सर्वनाशी हत्यारे जाति-विग्नों को तो आप देखते ही हैं। बताओ—मेरे बाल-बच्चों का कहीं ठिकाना रहेगा? हाय, मैं कैसा अभागा हूँ!"

रामचन्द्र ने तनिक तेज़ नज़र से उनकी ओर देखते-देखते कहा—"तो फिर यों कहिये, ऐसा करने से आपकी पुत्री को भाग्य नहीं रोकता—आपकी कायरता, आपका डर, आपकी खुद-ग़र्ज़ी—रोकती है। इसीलिये आप कुल दोष कन्या के भाग्य पर ही लगाना ठीक समझते हैं। बस, एक ही बिना सिर-पैर की बात—'जो लिखा है, वह हुए बिना नहीं रहेगा।'—यह कह देने से ही क़िस्सा ख़तम होजाता है, झञ्झट मिट जाते हैं। चलो, ख़तम हुआ।"

जयनारायण अत्यन्त करुण-भाव से अपना ऐसा कटु तिरस्कार सुन रहे थे। रह-रहकर उनके मन में घोर आत्म-ग्लानि उत्पन्न हो रही थी, और उनका मुख रामचन्द्र के सामने न पड़ता था।

रामचन्द्र फिर कहने लगे—"अच्छा, समझ लीजिये, आप छत से गिर गये, ख़ून बह निकला। चोट के मारे बड़ा कष्ट हुआ। इसे आपकी पुत्री देख रही है, पर वह यह कहकर बैठी रही कि पिताजी के भाग्य में गिरना लिखा था, और चोट खाना बदा था, अस्तु, पड़ा रहने दो—यह उनके पूर्व-जन्म के संस्कार का फल है, जो बदा है—भोग लेने दो। कहिये, यह बात आपको कितनी अच्छी लगेगी? यह कष्ट तो आपका एकाध दिन में दूर हो जायेगा, पर पुत्री को जीवन-पर्यन्त के दुःख भोगने को पड़े

रहने देना कितना बुरा है ? किन्तु पुत्रियाँ रोज़ गिरती हैं, मरती हैं, तड़पती हैं, दिलबिलाती हैं, और आप अपनी बड़ी-बड़ी दोनों आँखें खोलकर देखते हैं, कभी-कभी रो भी लेते हैं, पर ऐसा प्रबन्ध नहीं करते, कि उनका गिरना बन्द हो, उनके कलेजे के ज़ख़्म भर जायँ ! क्या यही हिन्दुओं का दया-धर्म है ? जिन हिन्दुओं को अपनी दया पर बड़ा अभिमान है, सच पूछो, तो उनकी बराबर संसार में कोई क़साई और क्रूर नहीं है। छोटे-छोटे भुनगे, चींटी, मकोड़े, कौवे, कुत्ते-आदि पशुओं के लिये तो तुम्हारे पास दया का भण्डार भर रहा है, पर अपनी सन्तान पर ये ज़ुल्म, कि उनकी उठती जवानी पर कुछ भी तरस न खाकर उन्हें ऐसी बुरी मौत मार रहे हो, कि क़साई गाय को भी न मारेगा। क़साई गाय को एक ही बार में साफ़ कर देता है—वह बेचारी दुःख से तो छूट जाती है, पर तुम तो एक वर्ष की दूध-पीती कन्याओं को विधवा बनाकर पापों की नदी बहा रहे हो—उन्हें रोम-रोम में विष पैदा करनेवाले दुःख-सागर में ढकेलकर जीते-जी दुःखाग्नि में डालकर भून रहे हो, उनके तड़पने को देख-कर पुण्य की उत्पत्ति समझ रहे हो ! इतना होने पर भी तुम्हारा पत्थर का कलेजा नहीं पिघलता—तुम्हारी छाती पर साँप नहीं लोट जाता ! आज दिन २॥ करोड़ विधवाओं की खेप तुम्हारी छाती पर मूँग दल रही है। इनमें से कोई चुपचाप सर्द आह भरकर भारत को रसातल पहुँचा रही है, कोई कहार, धींवर, क़साई के साथ मुँह काला करके कुल-वंश की नाक कटा रही हैं,

फिर भी हिन्दू—पवित्र हिन्दू !—ऋषि-सन्तान कहलाने की इच्छा रखते हैं। यदि अब भी हमें अपने रक्त-वंश का अभिमान है, तो शर्म है—लाख-लाख शर्म है !"

इतना कहते-कहते रामचन्द्र ने ज्वलन्त नेत्रों से जयनारायण की ओर देखा। वे शून्य दृष्टि से उन्हें देख रहे थे। रामचन्द्र फिर बोले:—

"अपने बुजुर्गों को तो देखो, जो दीन-दुखियों का आर्तनाद सुनकर भोजन-भजन छोड़ देते थे, उस दुखी-जन का दुःख दूर करके जल-पान करते थे, या जान खो देते थे। हाय ! उनकी सन्तान आज ऐसी अधर्मी होगयी—करोड़ों विधवाओं की बिलबिलाहट और हाहाकार सुनकर भी उन्हें सुख की नींद आती है ? जिनकी छाती पर सिला रक्खी रहे—आठों-पहर जवान विधवा कन्या चुपचाप कलेजे का ख़ून पिया करे, उसकी आत्मा फूट-फूटकर रोती रहे, और इन धर्म-धुरियों के हलक़ में मज़े से छत्तीसों व्यञ्जन सरक जायँ ! पहचानने से प्रथम ही जिसका एक-मात्र जीवन का आधार जगत् से उठ जाय—वह ग़रीब, अभागिनी तुम्हारे ही पाप से, अँधेरी दुःख-भरी दुनियाँ में चक्की पीस-पीसकर, कुत्ते-भी-न-खायँ—ऐसे सूखे टुकड़े खाकर दिन काटे ?—सुअर-भी-न-रहें—ऐसी सड़ी-मैली कोठरी में रहे ? बीमार पड़ने पर, बिना सहाय, भूखी-प्यासी तड़प-तड़पकर मर जाय ?—पर, तुम्हारे पत्थर-हृदय टस-से-मस न हों ! उनके लिये तुम्हारे हृदय में रत्ती-भर सहानुभूति नहीं रही ? अधर्मियों !—

मुसलमान, ईसाई और क़साई भी जिन पर तरस खाते हैं, पत्थर-हृदय जल्लाद को भी जिन पर करुणा हो आती है—उन दुखियाओं पर तुम दयालुओं (दया के अभिमानियों) को तनिक भी दया नहीं आती? जो लोग अपने को अहिंसा-धर्मधारी समझते रहे हैं, जो लोग दयावान् ऋषि-मुनियों की सन्तान हैं, उन्हीं की दया का यह दृश्य है। यह उन्हीं की सभ्यता का नमूना है। क्या यह सब घोर पाप नहीं है? ऐसे अत्याचार क्या दूसरी जाति में बता सकते हो? क़साई को सब से अधिक क्रूर, निर्दयी कहकर तुम घृणा करते हो, गाली देते हो, धिक्कारते हो, और उनका मुँह नहीं देखना चाहते। पर सच जानो, वह हम से अधिक घृणित नहीं हैं। बिना सींगों की गाय पर—अपनी बहन-बेटियों पर, उनकी छुरी कदापि नहीं उठती! हिंसक पशु-पक्षी, सिंह, भेड़िया-आदि भी अपने स्त्री-बच्चों पर दया करते हैं। स्त्रियों को सब ने अवध्य माना है। जङ्गली जाति भी स्त्री को नहीं सताती, पर हिन्दू-जाति के सपूत उन्हीं का गला घोंटकर स्वर्ग का द्वार खोल रहे हैं। छीः छीः!" इतना कहकर रामचन्द्र चुप हो रहे। उत्तेजना के मारे उनका सारा शरीर काँप रहा था। ललाट पर पसीना चू रहा था। आँखों में चिनगारियाँ निकल रहीं थीं। जयनारायण चुपचाप ज़मीन में नज़र गाड़े बैठे थे। दोनों चुप, किसी की भी जीभ नहीं खुलती थी। कुछ देर ठहरकर रामचन्द्र बोले—"अच्छा, अब चलता हूं। मैंने ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कहकर आपका जी दुखाया है, इसके लिये क्षमा

माँगता हूँ, पर याद रहे, कि क्रोध या द्वेषवश मैंने यह नहीं कहा है। आत्मा का दुःख जब नहीं सहा गया, तो कहा है। अन्ततः आप मेरे आत्मीय तो हैं; और जब आप पर ऐसी आपत्ति टूटी है, तो मानो मुझी पर टूटी है।"

जयनारायण के आँसू बह चले। वह अवरुद्ध कण्ठ से बोले,—"आप इनसे भी कड़ी-कड़ी सुनाइये, जब पाप मैंने किया है, तो बुरा क्यों मानूँगा? कृपया जल्दी-जल्दी दर्शन किया करें।"

रामचन्द्र 'नमस्ते' कहकर चल दिये। एकान्त पाकर जयनारायण फ़र्श पर गिरकर बालकों की तरह रोने लगे।

दसवाँ परिच्छेद

—:※:—

जयनारायण की स्त्री बड़ी देर से रसोई के लिये बैठी थी। वह अत्यन्त उदास और दुखी चित्त से वहाँ पहुँचे। देर के कारण गृहिणी झुँझलाई बैठी थी। इससे उसने कुछ कठोर बात कहने को स्वामी की ओर सिर उठाया ही था, कि मुख पर दृष्टि पड़ते ही समझ गई, कि आज कुछ हुआ है। आदमी चाहे लाख छिपाये, पर स्त्री और माता से कुछ छिपा नहीं रहता। जयनारायण की स्त्री हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। उसने चौके से बाहर आकर कहा—

"क्यों, क्या हुआ?"

"कहाँ ? कुछ भी तो नहीं !"

"तो ऐसे क्यों होरहे हो ?"

"कुछ नहीं।"—कहकर जयनारायण ने बात टालने की ग़रज़ से कहा—"रसोई तैयार है न, लाओ परसो।"

गृहिणी फिर चौके में गई। थाली परोसकर सामने रखदी, और पंखा लेकर स्वामी को हवा करने लगी। गृहिणी ने देखा—आज उसके स्वामी अत्यन्त खिन्न हैं। वह भोजन केवल शिष्टाचार के लिये कर रहे हैं। परन्तु उसने कुछ पूछना इसलिये उचित न समझा, कि भोजन के समय दुःख की बात जहाँ तक याद न हो, वहीं तक अच्छा है। जयनारायण का भोजन भी शीघ्र समाप्त होगया। वह एकदम थाली छोड़, उठ खड़े हुए।

अब गृहिणी से न रहा गया। उसने अत्यन्त करुणा से स्वामी की ओर ताकते हुए कहा—"बस, खाचुके ?"

"हाँ, जी अच्छा नहीं है; खाया नहीं जाता। तुम ज़रा चारपाई बिछादो, मैं तनिक सोऊँगा।"

गृहिणी चुपचाप भीतर कोठरी में चली गई। चारपाई बिछाकर ऊपर से दरी बिछा दी। जयनारायण ने बैठकर कहा—"तुम खा-पीकर निबटो, मैं तब तक सोलूँ।"

गृहिणी एकटक स्वामी की ओर देख रही थी। उसने कहा—"इस तरह कब तक काम चलेगा—कोई एक दिन की तो बात है ही नहीं ! मर्द होकर ऐसा करते हो ? मुझे तो देखो, एक बूँद आँसू नहीं गिराया।"

इतना कहकर गृहिणी पीछे की ओर देखने लगी। उसकी बात को झूठ साबित करने के लिये तभी टपटप कई बूँद आँसू उसके नेत्रों में आगये थे। उसने द्वार की तरफ़ देखने का बहाना करके उन्हें छिपाना चाहा, पर जयनारायण ने उन्हें देखकर भी न देखा।

उन्होंने धीर भाव से कहा—"जाओ, खा-पीकर निपटो। दो बजने को हैं।" गृहिणी चारपाई के पैताने स्वामी के चरणों को गोद में लेकर बैठी। जयनारायण ने बार-बार उससे जाने को कहा, पर वह बैठी ही रही। धीरे-धीरे उसका मुँह भारी हो-आया। मानो कोई भारी आँधी-तूफ़ान आने को हो। फिर तुरन्त ही उसकी आँखें भर आईं। जयनारायण ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"यह क्या पागलपन है? तुम तो अभी कहती थीं, कि मैं कभी आँसू नहीं गिराती, बड़ी कच्ची हो!" इतना कहकर वह ज़रा हँस दिये। पर जिसने वह हँसी देखी हो, वही उसकी भयङ्करता का पता लगा सकता है। गृहिणी पर उसका बुरा ही प्रभाव पड़ा। वह फूट-फूटकर रो उठी, और ख़ूब रोई। शान्त होने पर अत्यन्त अवरुद्ध कण्ठ से उसने कहा—"मैं रोऊँ-न, तो क्या करूँ? मुझे मौत भी तो नहीं आती! दो-दो बेटियों के भाग्य फूटे अलग, और अब मेरे फूटने बाक़ी हैं। दिन-भर उदासी, सोच-फ़िक्र,—न खाना, न पीना। शरीर की यह दशा कर रक्खी है! कब तक इस तरह चलेगा? इन अभागियों को तुम्हारा ही सहारा है। तुम्हीं जब शरीर को, शोक कर-करके मिट्टी कर

रहे हो, तो बस, अन्धे की लकड़ी भी गई !" इतना कहकर गृहिणी फिर रोने लगी।

जयनारायण ने दुखी होकर, टूटती आवाज़ से कहा—"आख़िर मैं क्या सदा के लिये पट्टा लिखा लाया हूँ ? अन्त में मुझे पाप का फल भोगने को नर्क का कीड़ा बनना ही पड़ेगा। अब मरने-जीने में क्या है ? आज मरा तो, कल मरा तो।"

"तुमने कौन-सा पाप किया है ?"

जयनारायण स्त्री की ओर आँखें फाड़कर देखने लगा। उसने कहा—"क्या ? क्या मैंने कोई पाप ही नहीं किया है ? दो-दो निरपराध बालिकाओं का सुहाग फोड़ चुका हूँ। इनसे सारे संसार के सुख छीन लिये हैं।—और तुम कहती हो; कौन-सा पाप किया है ?"

"सुहाग क्या तुमने फोड़ा है ? यह सब तो भगवान् की मर्ज़ी है।"

स्त्री की बात काटकर जयनारायण बोले—"चुप रहो ! भगवान को यहाँ दोष मत दो ! भगवान क्या राक्षस हैं, या हमारे शत्रु हैं ? वह तो संसार के स्वामी हैं, पिता हैं। चींटी से हाथी तक को वही सब-कुछ देते हैं। वह करुणा के धाम क्या निरपराध-निरीह बालिकाओं पर ऐसा वज्र-पात करेंगे ? ऐसा साहस तो नर्क के कीड़े से भी अधम मुझ-जैसे पापी से ही हो सकता है।" इतना कहकर उत्तेजना के मारे जयनारायण हाँपते-हाँपते कमरे में टहलने लगे।

उनकी स्त्री उन्हें देखकर डर गयी थी—उसने भयभीत होकर कहा—"बिना मतलब क्यों अपने-आपको गालियाँ दे रहे हो? तुम क्या उसे ज़हर देकर मारने गये थे? अच्छा, सुन्दर, तन्दुरुस्त लड़का देखकर ही तो ब्याह किया था। भग.........."

बात काटकर जयनारायण बोले—"बस करो, फिर भगवान् का नाम। यह क्या? सत्यानाशी ब्याह ही क्या हमारा कम पाप है? इस ब्याह को करके ही घोर पाप की टोकरी सिर पर लादी है।"

अब गृहिणी ने माथा ठोककर कहा—"हाय तक़दीर! इनकी बात सुनो। अपने बेटे-बेटियों का ब्याह करना पाप है, तो सारा संसार ब्याह करके पाप कमा रहा है?"

जयनारायण क्रोधित होकर बोले—"अरी कम-समझ! सारे संसार की तुझे ख़बर ही क्या है? संसार ऐसा मूर्ख नहीं है। ब्याह तो सभी करते हैं, पर ब्याह के वक़्त पर करते हैं—दुधमुहीं लड़कियों के गले में फाँसी नहीं डाल देते।"

स्त्री ने अचरज में आकर पूछा—"ब्याह का समय और कौन-सा होता है?"

"जवान उम्र में,—जब लड़के-लड़की घर-गृहस्थी के योग्य हो जायँ, तभी ब्याह करना चाहिये।"

स्त्री ने असन्तोष से मुँह बनाकर कहा—"जवान उम्र में विवाह करके विधवा नहीं होतीं?"

"होती क्यों नहीं? कम होती हैं।"

"तो बचपन का विवाह विधवा बना देता है, क्यों ?"

जयनारायण ने खड़े होकर समझाते हुए कहा—"देखो, जब पेड़ छोटा होता है, तो बड़े यत्न से उसकी रक्षा करनी पड़ती है, खाद लगानी पड़ती है। ज़रा-सी आँधी, पानी, धूप के कारण ही वह नष्ट होजाता है। उसके बढ़ने का कुछ भी भरोसा नहीं होता। अन्त में जब बढ़कर दृढ़ हो जाता है, उसके सब अङ्ग पुष्ट हो जाते हैं—तो बड़ी-बड़ी आँधी के झोकों में नहीं गिरता। यही हाल आदमी का भी है। जब बालक छोटा होता है, तो ज़रा-सी सर्दी-गर्मी-हवा का उस पर असर होता है,—अनेक रोग पीछे लगे रहते हैं, पर ज्यों-ज्यों बड़ा होने लगता है—उसके सब अङ्ग सबल हो जाते हैं, और वह कम बीमार पड़ते हैं। इसी से कहता हूँ, कि बाल-विवाह से विधवायें अधिक होती हैं, और यह तो साफ़ बात है कि मैं जो नरो का ब्याह ही अभी न करता, तो वह विधवा कैसे होती ?"

स्त्री ने आँसू पोंछकर कहा—"अब तो साँप चला गया—लकीर पीटने में क्या है ? जो होगया, सो होगया। इन बातों में क्या धरा है ? भगवान की यही मर्ज़ी थी।"

जयनारायण ने कहा—"फिर भगवान् को दोष दिया ? अब भी हो सकता है,—यह दुख दूर अब भी हो सकता है। इसका भी उपाय है।"

स्त्री ने अत्यन्त विस्मय और उत्कण्ठा से कहा—"क्या उपाय है ? नरो का दुख दूर हो सकता है—कैसे हो सकता है ?"

जयनारायण ने स्त्री के मुख पर सहसा नेत्र गाड़कर कहा—"उसका फिर विवाह कर दूँ।"

अब तो गृहिणी उठ खड़ी हुई, उसने कहा—"क्या कहा? ब्राह्मण की बेटी का पुनर्विवाह? तुम्हारी बुद्धि तो नहीं मारी गई है? वाह, अच्छी युक्ति बैठाई है!"

"क्यों, बात तो कहो—हर्ज ही क्या है? एकदम नाराज़ क्यों होती हो?"

"चलो हटो, पत्थर पड़े ऐसी बातों पर।"

"कुछ वजह भी हो, या यों-ही?"

"सात-सात जन्म डूब जायँगे। नर्क में भी जगह न मिलेगी। ऐसी अनहोनी बात आज तक संसार में हुई है?"

जयनारायण ने भौं सिकोड़कर कहा—"तुम्हें खबर तो नहीं अपने घर की भी, और संसार की बात करती हो। इसमें हर्ज ही क्या है?—और अनहोनी ही क्या है?"

"बिरादरी में नाक कट जायगी।"

"कट जाय, मेरी नरो को सुख तो मिलेगा!"

"नरो को सुख बदा होता, तो एक ही ब्याह में होता।"

"अच्छा, अब दूसरा ब्याह करके देखते हैं कि होता है या नहीं। जो उपाय हमारे वश का है—उसके रहते वह क्यों कष्ट भोगे?"

स्त्री ने बिगड़कर कहा—"आज तुम्हें हो क्या रहा है, जो बार-बार ऐसी बातें करते हो? कहीं नशा तो नहीं खा आये हो?"

"नहीं, मैं तो बिलकुल होश में हूँ। तुम यह बताओ, कि तुम्हारी लड़की जन्म-भर दुःख भोगे, यह अच्छा है—या एक बार उसे फिर सुखी देखूँ, यह अच्छा है?"

"अपनी सन्तान का सुख सभी चाहते हैं। पर बात वही की जाती है, जो करने की होती है।"

"तो यह बात करने की नहीं है?"

"नीच कुजातों में भी ऐसा होता नहीं दीखता?"

"क्यों, अब तो बड़ी-बड़ी ज़ातों में भी होता है—तुमने क्या बसन्तपुरवालों का हाल नहीं सुना? और आर्य्य-समाज तो इसका प्रचारक ही है?"

"आग लगे इस आर्य्य-समाज में - और भाड़ में जाय, वह बसन्तपुरवाले! मरे मेरे द्वार पर आवें, तो झाड़ू से खबर लूँ—

"तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ी न दूजी वार।"

जयनारायण ने देखा, कि मामला असाध्य है। वह किसी तरह अपनी स्त्री को न समझा सके। निराश होकर करवट बदल, सोने का बहाना कर, पड़ रहे। थोड़ी देर बाद स्त्री बाहर निकल गई। उस दिन उसका उपवास रहा।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

—::❀::—

जिस समय हरनारायण के कमरे में उपरोक्त घटना घट रही थी, उसी समय नारायणी के कमरे में ११॥ वर्ष का बिछुड़ा पिता अपनी रोगिणी पुत्री को देख रहा था।

जिस समय जयनारायण उसकी कोठरी में घुसा, तब नारायणी सो रही थी। जयनारायण चुपचाप पुत्री का मुँह निहारने लगा। देखते-देखते उसका सिर घूमने लगा, आँखें धुँधली होगईं, और उससे खड़ा न रहा गया। वह वहीं चार-पाई की पट्टी पर बैठ गया।

वह छोटी-सी मासूम बच्ची कैसी होगई थी! बाल बिखरे पड़े हैं, मुँह पीला पड़ गया। आँखें माथे में धस गई हैं, गालों की हड्डियाँ निकल आई हैं, और पसलियों की हड्डी-हड्डी चमक रही है। जयनारायण ने एक ठण्डी साँस के साथ दो बूँद आँसू गिराये। फिर उसने कन्या के माथे पर हाथ रक्खा। देखा, वह आग की तरह तप रहा है। स्पर्श होते ही कन्या जाग उठी, और एक बार पिता को ग़ौर से देखते ही कुछ कहने को मुँह खोला ही था कि खाँसी के मारे छटपटाने लगी। खाँसी, दुर्बल रोगी, और तीव्र ज्वर—यह सब एक शरीर में जिसने देखा है वही, उस छटपटाहट की वेदना का अनुमान कर सकता है। जयनारायण

कातर भाव से पुत्री को गोद में ले बैठे। अभी तक खाँसी उसे दम नहीं लेने देती थी। बड़ी देर में थोड़ा कफ़ निकला, और वह थककर मूर्च्छित-सी होकर पिता की गोद में गिर पड़ी। उसका सिर ढुलक गया।

कुछ देर में दम लेकर उसने हाँपते-हाँपते कहा—"बाबूजी, मैं मरी!" यह कहकर एक कातर दृष्टि से वह पिता को देखने लगी। जयनारायण ने कठिनता से उमड़ते हुए हृदय को रोककर दुलार से कहा—"कोई चिन्ता नहीं बेटी! बड़ी जल्दी आराम हो जायगा।"

रोगिणी ने कुछ नहीं कहा—वह धीरे-धीरे श्वास ले रही थी। बोलना चाहा, पर खाँसी के डर से बोली नहीं। जयनारायण ने उसे गोद में सुलाकर कहा—"कब से तुझे बीमारी हुई?"

"दशहरे के दिन से खाट में पड़ी हूँ।"

"दशहरे से? और किसी हकीम-डॉक्टर को नहीं दिखाया?"

"कौन दिखाता?" कहकर बालिका की आँखों में जाने किस दुख को याद करके पानी छलछला आया।

कुछ ठहरकर जयनारायण ने क्रोध से कहा—"क्यों—क्या सब मर गये थे? घर में कोई नहीं था?" नारायणी चुप रही।

कुछ ठहरकर जयनारायण बोले—"और तैने मुझे भी अपनी ख़ैर-ख़बर की कोई चिट्ठी न भेजी?"

नारायणी चुप रही। जयनारायण ने कहा—"बोल, चुप क्यों है? तूने मुझे भी अपनी ख़बर नहीं भेजी?"

नारायणी चुप रही—पर उसकी आँखों ने उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया। अब उनमें पानी छलछला आया था, वह वेग से वह चला। उसकी हिचकियाँ बँध गई। जितना ही वह अपनी व्यथा छिपाना चाहती थी, उतनी ही आँखें उमड़ी पड़ती थी। रोते-रोते नारायणी अधमरी होगई।

अन्त में, दम लेकर वह दुधमुही बालिका अपनी ससुराल की दिन-चर्या यों सुनाने लगी—

"जब तुम वहाँ से चले आये, तो सब ने ताँसना शुरू कर दिया। जेठ-जिठानी भी, जो अलग होगये थे, फिर आकर शामिल रहने लगे। वे सब बात-बात में मुझे गाली देने, मारने और दुःख देने लगे। चाचाजी (श्वसुर) ने तो मेरे हाथ का अन्न-जल त्याग दिया। जब मैं पीने को पानी भी लेकर जाती, तो सैकड़ों गाली सुनाते, 'डायन', 'अभागिनी' बताते, और लात मारकर गिलास फेंक देते। अन्त में मैंने उनके सामने जाना ही छोड़ दिया। रसोई में घुसने कोई न देता था। सब के खा-पी चुकने पर दो-तीन बजे रूखी-सूखी, जो मिलती—खाती। वहीं सब खा-पीकर चौका छोड़ जाते थे। तब मैं भीतर जाकर जो-कुछ बचा-खुचा रहता, खाकर पानी पी लेती थी। कोई पूछता भी नहीं, कि तू भूखी है, या प्यासी। जिठानी और जेठजी सदा तुम्हें गाली दिया करते—कि व्याह में खाक दिया! यह साँपन अच्छी व्याहकर लाये!—आदि। चाहे जी अच्छा हो, या न हो, रात को बारह बजे तक चौका-बासन मुझ-ही को करना पड़ता था। सर्दी में

काँपती जाती थी, पर कोई पूछता भी नहीं था। जिठानी सवेरे आकर जगा जाती, और आप सो जाती। अन्त में मैं खाट में गिर गई, इस पर भी जिठानी ने मक्र-फ़रेब बताया, और बोली —'जैसे बने, काम करना ही होगा, तेरा यह बहाना एक न सुना जायगा। चल पानी भरला।' मैं पानी भरने गई, तो घड़ा लेकर गिर पड़ी। कई दिन से कुछ खाया न था, करती क्या? पर सास ने रस्सी लेकर ऐसी मार लगाई, कि मैं अधमरी होगई। उसी दिन ज़ोर का बुख़ार चढ़ा, कई दिन में होश आया। मालती कहती थी, कि तू वाय में बकती थी। ये सब तो मुझे मरा समझते थे। फिर तभी से मन्दा-मन्दा ज्वर रहने लगा। खाँसी भी होगई। बाजरे की रोटी खानी पड़ती थी, जिससे दस्त होगये……।"

नारायणी और कुछ कहना चाहती थी, कि जयनारायण ने कहा—"बस-बस—चुप रह, अब नहीं सुना जाता।"

सुनते-सुनते वे पागल-से होगये थे। अन्त में उनसे बैठा न रहा गया। वे उठकर कमरे में टहलने लग गये। कुछ देर में एक लम्बी साँस ली। फिर बेटी के पास जाकर कहा—"अच्छा बेटा, कोई चिन्ता नहीं, अब तू जल्दी ही अच्छी हो जायगी।"

नारायणी ने सशोक पिता की ओर ताककर कहा—"बाबा, अब तुम मुझे वहाँ तो न भेजोगे?"

जयनारायण ने देखा—बालिका आतङ्क से काँप रही है।

उन्होंने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"ना-ना, बेटी! उन चाण्डालों से हमारा क्या काम?"

"वे कहते थे कि यहाँ जाकर जो हमारी चुगली खाई तो वापस आने पर जीता न छोड़ेंगे। बाबा! उनसे तुम कुछ कहना नहीं, नहीं तो मैं जीती न बचूँगी।"

जयनारायण बिलखकर रो उठे, बड़ी कठिनता से बोले—"मेरी बच्ची! जब तक मैं जीता हूँ, तुझे उनसे डरने की ज़रूरत नहीं है। उन पापियों को द्वार पर भी न फटकने दूँगा। नीच, बेईमान, पाजी कहीं के—मेरी लड़की क्या जानवर समझी है! अपने पालतू पशु पर भी कोई ऐसा ज़ुल्म नहीं करता। पर किससे कहूँ, यह सब मेरा ही तो पाप है। संसार के स्वामी का न्याय भी कैसा उल्टा है, बाप का पाप बेटी भोगती है!" जयनारायण अत्यन्त दुःखी होकर कमरे से बाहर निकल गये। बालिका की आँखें झपक गई थीं, बात करनी पड़ी, इसी से थक गई।

बारहवाँ परिच्छेद

—:०:—

भगवती उदास बैठी, अपनी फटी धोती सी रही थी। चम्पा ने उसके काम में बाधा देकर कहा—

"निगोड़ी! तुझे जब देखें, तभी किसी-न-किसी परपञ्च में फँसी रहती है, पर आज मैं तुझे न छोड़ूँगी, तुझे मेरे साथ चलना ही पड़ेगा।"

भगवती ने हँसते-हँसते कहा:—

"क्योंरी! तू जब आती है, गाली देती आती है। तेरी ज़बान बड़ी लम्बी हो गई है।"

चम्पा ने मुँह पिचकाकर कहा—"ओ हो! पुरखिन को गालियाँ सुहावेंगी थोड़े ही! अब आते ही बड़ीजी के पाँव पड़ना पड़ेगा—क्यों न?"

भगवती ने उसे धक्का देकर कहा—"चल, परे हो! तुझसे पार कौन पावेगा। तू खूब गाली दिया कर—बल्कि दरवाज़े में घुसते ही बखान-बखानकर! मर्दानगी तो तेरी तभी है।"

चम्पा ने नकली मान से तनकर कहा—"अच्छा, तो तू मेरी मर्दानगी परखने चली है?"

भगवतीने हँसकर कहा—"भई मैं हारी। आ, बैठ तो सही। यह आज जो नख-शिख से सिंगार किये आती है; तो किस पर चढ़ाई है?"

"चढ़ाई में तुझे क्या छोड़ूँगी। तुझे भी आज नख-शिख से सिंगार करना पड़ेगा।"

भगवती ने फिर सरलता से हँसकर कहा—

"मेरा सिंगार किसको दिखावेगी भई?"

"वहाँ देखनेवाले अनेक होंगे जिसे जी चाहे दिखाइयो।"

भगवती ने मुँह फुलाकर कहा—"चल चुप रह, तू चली कहाँ है?"

"तू भी साथ चलकर न देखले।"

"आख़िर मालूम भी तो हो।"

"बहू गौना होकर आ रही है।"

"किसकी गोनिहाई बहू?"

"मानसिंह के बेटे की।"

"ना, मैं तो ना जाऊँगी। तू जा।"

"चलेगी भी, या मिज़ाज ही दिखाये जायेगी?"

"माँ नाराज़ होगी।"

"मैं उससे पूछे लेती हूँ।"

"ना, मेरा जी नहीं करता।"

चम्पा ने एक न सुनी—वह तुरन्त गृहिणी के पास आज्ञा लेने को पहुँची। कार्य बहुत कठिन नहीं था, साधारण ना-नूँ करने पर वृद्धा राज़ी होगई। चम्पा ने आकर कहा—"चल, अब तेरी माँ ने भी कह दिया।"

"ना-ना, मैं न जाऊँगी; मेरा जी नहीं करता।"

"देख भगवती, तू बड़ी ज़िद्दन होगई है, मैं तेरे पास फटकूँगी भी नहीं। मैं तो इतनी दूर से आई हूँ संग लेने, और यह नखरे ही किये जाती है। ऐसा भी क्या आदमी!"

अब की बार चम्पा की दवा कारगर हुई। उसे नाराज़ हुई जानकर भगवती उठकर उसके गले से लिपटकर बोली—

"अच्छा-अच्छा, चलती हूँ। तू है बड़ी ख़राब। बात-बात में नाराज़ हो जाती है। अच्छा, ठहर, मैं कपड़े पहन लूँ।"

चम्पा मुँह फुलाये खड़ी रही। उसने सोचा, जो औषधि

अमर अभिलाषा--

उसने धरती पर गिरकर बुढ़िया के पैर पकड़ लिये। अन्त मे उसने टूटते स्वर से कहा।

(पृष्ठ २६)

इतनी कारगर हुई है, उसे आराम होने के बाद भी थोड़ा और पिलाना चाहिये।

भगवती ने कपड़े पहनकर तैयार होकर कहा—"चल, चलें।"

चम्पा ने माथे पर बल डालकर कहा—"चल, मैं तेरे साथ नहीं जाती।"

भगवती ने कहा—"क्यों—अब क्या हुआ ?"

"हुआ तेरा सिर ! गोनिहाई को देखने इस तरह जाया करते हैं—जैसे किसी की टहलनी हो ! पास-पड़ौस की सौ लुगाई होंगी—देखेंगी, तो क्या कहेंगी ?"

"तो फिर क्या करूँ ?"

"धरऊ जोड़ा निकालकर पहन। गौने के बाद एक बार ही तो पहना था—धर किसलिये रक्खा है, क्या चिता पर पहनेगी?"

भगवती का मुख उदास होगया। पर चम्पा का उधर लक्ष्य नहीं था, वह घसीटकर उसे भीतर लेगई। उसकी पिटारी खोलकर उसमें से गुलाबी जोड़ा, जो भगवती के गौने का था, निकालकर उसे पहना दिया, उसका मुँह धोकर बिन्दी और आँखों में काजल लगा दिया। भगवती ने बहुतेरा मना किया, पर उसने एक न सुनी। गोटे की अँगिया पर ओढ़ना उढ़ाकर उसकी चुटकी लेकर कहा—"बता, तेरे गहने कहाँ हैं ?"

"ना! ना ! गहने मैं नहीं पहनूँगी।"

"अच्छा-अच्छा—पर बता तो सही।"

"वे माँ के पास हैं।"

चम्पा उन्हें लेने को गृहिणी के पास दौड़ी।

गृहिणी ने कहा—"रहने भी दे—गहने क्या करने हैं; यों-ही चली जायगी।"

चम्पा ने कहा—"चाची, सब लुगाई तो ओढ़े-पहने आवेंगी, यह ऐसी क्या अच्छी लगेगी?"

गृहिणी ने कहा—"बावली! भगवती को गहने क्या शोभा देंगे?"

पर चम्पा कच्ची घानी की नहीं थी, ऐसी चिपकी कि गहने लेकर ही रही। भगवती ने कितना ही रोका—पर उसने एक-एक करके सब आभूषण पहना दिये। सब-कुछ पहनाकर चम्पा ताली बजाकर हँसी।

उसने कहा—"भगवती! तुझे याद है—तेरे गौने के दिन मैंने ही तुझे यह सब पहनाये थे?"

भगवती और भी उदास होगई—उसने बात छिपाने को कहा—"चल चम्पा, अब चलें।" दोनों चलीं—आँगन में गृहिणी खड़ी थी। उसने देखा—भगवती जारही है। वृद्धा की आँखों में आँसू भर आये। उसने धीरे-से कहा—"क्या आज भगवती का गौना है?" पर उसके ये शब्द किसी ने सुने नहीं; वायु-मण्डल में मिल गये। गृहिणी आँसू पोंछकर घर में घुस गई।

मानसिंह के घर में स्त्रियों की खूब रेल-पेल थी। भाँति-भाँति के रङ्गीन वस्त्राभरण धारण किये युवतियों का झुण्ड नवेली बहू

को अत्यन्त कौतूहल से घेरे खड़ा था। बात कौतूहल की थी। एक सरला अबोध बालिका का आज रस-रहस्य में प्रवेश है। सुखदेई, हरदेई, तारो, गुलाबो, नन्ही, चुन्नी, बदामो, ऊदी, चमेली, खेड़े की सभी प्रसिद्ध युवतियों का वहाँ जमघट था। गाँव-भर के घर युवती-हीन हो रहे थे। ख़ैर इतनी ही थी कि समय दिन का था, और सब के पतिगण अपने-अपने काम-काज में फँस रहे थे। घर-घर में आज अँधेरा है, यह किसी को जान न पड़ा।

एक ओर कुछ वृद्धा और प्रौढ़ा स्त्रियाँ गृहिणी को घेरे बैठीं बहू की तारीफ़ कर रहीं थीं। गृहिणी हँस-हँसकर सब का स्वागत-सत्कार और सम्मान कर रही थी।

ऐसी ही चुहुल की हाट में चम्पा के साथ भगवती ने घर में प्रवेश किया। भगवती अत्यन्त सकुचा रही थी, पर चम्पा उमंग में मदमाती हो रही थी। उसे अपने गौने के दिन की मधुर दुर्दशा भूली नहीं थी। भगवती को भी यह बात याद थी, पर उसकी अवस्था ऐसी नहीं थी, कि वह किसी सुखकर विषय को सोचकर सुखी हो सके। भगवान् सुख सब ही को देते हैं, पर सुखी सब-किसी को नहीं कर सकते। अस्तु, जैसा पाठकों को मालूम होचुका है, चम्पा ज़रा चटकीली तबियत की थी। सो घर में प्रवेश करते ही उसकी सखी-सहेली उसे घेरकर बहू के पास ले चलीं। कोई उसे चुटकी देने को लपकी, कोई गले में लटकने, किसी ने पकड़कर ज़रा मसक देने का इरादा किया, पर ज्यों-ही सब की दृष्टि उसकी संगिनी पर पड़ी, सब सहमकर ठिठक गईं—सब की काना-फूसी

होने लगी। छदामों ने गुलाबो को एक ओर लेजाकर कहा—"तुमने कुछ देखा भी?"

"क्या हुआ?"

"चम्पा की संगिनी देखी?"

"कौन है?" गुलाबो ने अनजान की तरह पूछा।

छदामो ने झनखाकर कहा—"तेरा सिर! जयनारायण की धी रॉड थी—भगो?"

अब तो गुलाबो को मानो बिच्छू डस गया। उसने ठोड़ी पर हाथ रखकर कहा—"एँ—भगो! इस ठाठ से? बस, अब कुछ कसर ना रही। रॉड का यह ठाठ!"

छदामो ने मुँह चिचकाकर कहा—

"कलयुग है—कलयुग, बहू! इस कलयुग में किसी की मरजाद थोड़े ही रही है।" चण-भर में दृश्य बदल गया। बहू के चारों ओर जो जमघट इकट्ठा था—सब भगवती को देखने आ जुटा। सब को यह लालसा हुई, देखें तो कलियुग की रॉड का कैसा ठाट-बाट है। भगवती ने देखा, उसके चारों ओर ठठ जुड़ पड़ा है। सभी उसे देखकर ठोड़ी पर उँगली रखकर अचरज कर रही हैं। कोई आपस में इशारा कर रही है, कोई बोली कस रही है। भगवती घबराकर उठी। उसने चम्पा से धीरे-से कहा—

"चम्पा, मैं तो घर जाती हूँ, तू यहाँ ठहरी रह!"

चम्पा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"बहू को देखकर हम भी चलेंगे, हमें क्या यहीं घर बसाना है?"

गृहिणी ने देखा—आँगन में बड़ी भीड़ लग रही है। उधर से सरनी की माँ आरही थी। उसे देखकर गृहिणी ने कहा—"अरी लक्ष्मी! यह सब क्या है?" लक्ष्मी ने हाथ मटकाकर कहा—

"धूल थोड़ी-सी! सती सावित्री आई हैं, उनका तुम भी दर्शन कर लेओ—चरणोदक लेलो।"

गृहिणी ने झुँझलाकर कहा—"सीधी बात कह री! कौन है?"

लक्ष्मी ने और पास आकर कहा—"कहूँ क्या पत्थर! भग्गो रानी आई है, बहू को देखने।"

"कौन भग्गो?"

"वही जयनारायण की राँड बेटी!"

गृहिणी तड़पकर बोली—"राँड का यहाँ क्या काम? शुभ काम में उसे बुलाया किसने है?"

समस्त वृद्धा-मण्डल बोल उठा—

"अजी, अपने-अपने घर की सभी ख़ैर मनाते हैं। बड़े-बड़े भाग से बहू मिलती है। उस निपूती माँ को यह नहीं सूझी कि कैसे सन-सोमन राँड धी भेज दूँ? ख़बरदार—जो बहू के पास गई! ऐसी लुगाई की तो परछाईं भी बुरी।"

लक्ष्मी बोली—"तनक उसकी सूरत तो देखो—उसे विधवा कौन कहे? कैसे सिंगार करके आई है—मानो यही गोनिहाई है।"

अब गृहिणी तमतमाकर उधर दौड़ी। समस्त अनुचर-मण्डल भी दौड़ चला। गृहिणी को देखते ही भीड़ हट गई। सब देखने

लगीं, देखें—अब क्या रंग खिलता है। गृहिणी ने चम्पा से कहा—

"क्यों चम्पा—तुझे भले-बुरे का कुछ ज्ञान भी है?"

चम्पा ने कहा—"क्या हुआ चाची, मैंने क्या किया है?"

"तूने कुछ किया ही नहीं? अच्छा, तू जो शुभ-सायत के दिन राँड को ले आई—यह तेरी कैसी अक़्ल है?"

चम्पा चुप!

भगवती मानो धरती में गड़ गई।

इतने में एक वृद्धा बोली—"राँड को यह सिंगार? आग लगे इस कलयुग में।"

दूसरी ने कहा—"ऐसी लुगाई को दूसरा ख़सम करते क्या लगेगा?"

तीसरी बोली—"जब इतना होगया है, तब वह भी होगा।"

चौथी—"अब किसी की मर्जाद नहीं रही!"

चम्पा अब तक चुप थी, अब उसने साहस करके कहा—"चाची—राँडों के जी नहीं होता? मैं तो उसे ज़बर्दस्ती ले आई थी, वह तो आती भी नहीं थी।"

गृहिणी ने और रिसाकर कहा—"कौन अपनी गोनिहाई बहू पर राँड की परछाईं पड़ने देगी? अपनी शुभ सभी चाहते हैं। तू इतनी बड़ी तो होगई, पर समझ कुछ भी नहीं आई।"

चम्पा कुछ कहा ही चाहती थी, कि इतने में गृहस्वामी ने घर में प्रवेश करके कहा—"क्या चकचक है?"

गृह-स्वामी का स्वर सुनते ही समस्त युवती-मण्डल हट कर भीतर भाग गया। गृहिणी बोली—

"अजी, चकचक क्या होती? सभी अपनी-अपनी शुभ चाहते हैं,—राँड विधवा को कौन घर में घुसने देता है?"

"कौन आई है?"

"भग्गो—जयनारायण की लड़की!"

गृह-स्वामी ने भौं सिकोड़कर कहा—

"जयनारायण ने भाँग खाली है, या पागल होगया है? निकालो इसे यहाँ से!"

भगवती चुपचाप चल दी। चम्पा भी उल्टे-पैरों लौट चली। गृहिणी ने चम्पा को बहुतेरा रोका, पर उसने एक न सुनी। घर आकर भगवती किवाड़ बन्द कर पड़ गई। उसका हृदय कैसा हो रहा था, तथा उस पर कैसी बीती, सो हम में लिखने की शक्ति नहीं है। चम्पा ने बहुत दिन तक भगवती को मुँह दिखाने का साहस न किया।

तेरहवाँ परिच्छेद

—:०:०:—

ठीक दोपहरी झलमला रही थी। लूओं के तपते शोलों, हवा की साँय-साँय आवाज़ और गाँव की गली के सन्नाटे ने समय को और भी भीषण बना दिया था। गाँववाले सब घर में पड़े

विश्राम कर रहे थे। इसी समय भगवती पैर बढ़ाये, चम्पा के घर जा रही थी। इतने ही में पीछे से किसी ने आवाज़ दी।

"भगवती! भगवती! कहाँ जा रही है?"

भगवती ने पीछे फिरकर देखा, एक युवक उसकी ओर लपका हुआ आ रहा है। उसे उस सुनसान में अपनी तरफ़ आता देख, भगवती पहले तो डर गई, और चाहा, कि भागकर चम्पा के घर में घुस जाऊँ, पर इतने में ही उसने पास आकर कहा—"भगवती! अच्छी तो है?"

"हाँ; तुम कौन हो?" यह कहकर भगवती उसका मुँह देखने लगी। उसने हँसकर कहा—"तुम मुझे नहीं जानतीं? तुम्हारे भाई तो मेरे बड़े दोस्त हैं।"

"तुम्हारा नाम?"

"गोविन्दसहाय।"

"तुम गोविन्दसहाय हो?"

"हाँ, अब पहचान गईं?"

"पश्चिम तरफ़ बनियों के मुहल्ले में रहते हो?"

"हाँ; तुम कहाँ जा रही हो?"

"चम्पा के घर।"

"चम्पा कौन?"

"रूपनारायण-चाचा की लड़की।"

"समझा—वह तुम्हारी सहेली होगी?"

भगवती ने कुछ मुस्कराकर सिर हिला दिया। युवक ने उसके

और निकट आकर उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा—"तुमने यह सूरत कैसी बनाई है?"

"क्यों?—जैसी थी, वैसी है।"

"तुम्हारे ब्याह पर मैंने तुम्हें देखा था। तब क्या तुम ऐसी ही थीं?"

सखी का नाम सुनने से जो प्रफुल्लता अबोध बालिका के मुख पर आई थी, इस बात को सुनकर एकदम उड़ गई। उसके नेत्र भर आये। तब वह बालिका नहीं रही थी, अपना दुःख समझने लगी थी। उसने अपना भाव छिपाने को उधर मुँह फेर लिया।

गोविन्दसहाय ने निकट आकर कहा—"क्यों, चुप क्यों हो-गईं,—मुँह क्यों फेर लिया?"

भगवती के नेत्रों से आँसू टपक पड़े। उसने मुँह फेरे-ही-फेरे कहा—"वे दिन और थे, यह दिन और हैं। राम जिस तरह रखे, उसी तरह रहना पड़ता है।"

गोविन्दसहाय ने देखा—बालिका बहुत-कुछ समझती है, उसकी वाणी काँपती और भरी हुई थी। उसने उसका हाथ पकड़कर कहा—"अरे! तुम रोती हो?"

भगवती ने एकदम उसकी ओर देखकर कहा—"नहीं तो।" पर तभी उसके आँखों से दो आँसू और भी टपक पड़े। उसने बात फेरने के ढङ्ग से कहा—"तुमने मुझे क्यों बुलाया था?"

क्षणेक ठहरकर युवक ने कहा—"तुम्हें घर के लोग अच्छी तरह नहीं रखते?—वहाँ तुम्हें कुछ दुःख है?"

बालिका ने करारेपन से कहा—"नहीं तो।" पर उसकी साँस ने कह दिया—मानों उसी को उसी की बात पर अविश्वास है।

"नहीं तो कैसे? मैं देखता हूँ, तुम्हारा सोने का शरीर मिट्टी हो रहा है............।"

बात काटकर भगवती बोली—"मेरा हाथ छोड़ दो—तुमने मुझे क्यों पुकारा था?"

"एक बात कहनी थी।"

"क्या?"

"मानोगी?"

"क्या बात?"

"तुम्हें लिखना आता है?"

"हाँ।"

युवक ने कुछ इधर करके कहा—"तुम्हें जो तकलीफ़ हो, मुझे लिख भेजा करो। जो चीज़ चाहिये, उसकी तकलीफ़ न भोगनी पड़ेगी—मैं भेज दूँगा।"

कन्या ने विस्मय-से कहा—"क्यों, तुम क्यों भेजोगे?"

"तुम्हारी तकलीफ़ मुझसे नहीं देखी जाती।"

"मैं तुम्हारी चीज़ क्यों लूँ?"

"क्या हर्ज है? मैं तुम्हारे भाई का मित्र जो हूँ।"

"मुझे ऐसी तकलीफ़ ही क्या है?"

"यह बात झूठ है। तकलीफ़ न होती, तो तुम्हारी ऐसी सूरत हो जाती?"

कुछ सोचकर भगवती ने कहा—"और भाई-भावज मना करें, तब ?"

"उनसे कहने की ही क्या ज़रूरत है ?"

"जो देख लें ?"

"तुम सावधानी से रक्खो—और देख ही लें, तो कह दिया करना, कि चम्पा ने दी है।"

भगवती क्षण-भर चुप रहकर बोली—"पर मेरे पास वे सब चीज़ें आवेंगी कैसे ? मैं ही तुम्हें कैसे ख़बर करूँगी ?"

युवक ने इधर-उधर देखकर धीरे-से कहा—"छलिया नाइन को जानती हो ? वह तो तुम्हारे घर जाती रहती है। उसे जो तुम काग़ज़ दोगी, मुझे चुपचाप मिल जायगा। मैं भी उसी के हाथ चीज़ें भेज दिया करूँगा, और खाने-पीने की चीज़ों को लिखने की तो ज़रूरत ही क्या है, मैं खुद भेजूँगा। थोड़ा मेवा और मिठाई शहर से लाई रक्खी है, उसे आज ही रात को भेजूँगा। पर देखना, किसी पर बात खुलने न पावे। भला !"

बालिका लालच में आगई। वर्षों बीत गये थे, मेवा और मिठाई उसने ज़बान पर न रक्खी थी। भाई और पिता की झूठी थाली से ही उसका पेट भरता था। उसके मन में ऐसा हुआ, कि अभी यहीं यह मिठाई देदें, तो यहीं खड़ी-खड़ी खालूँ। पर तुरन्त उसने सोचा—यह कौन है, उसकी चीज़ मैं क्यों लूँ ? कोई क्या कहेगा ? यह सोचकर उसने कहा—"नहीं, मैं नहीं लूँगी।"

"क्यों—हर्ज क्या है, भगवती ? मैं क्या ग़ैर हूँ ?"

भगवती ने उसकी ओर देखा, कि करुणा और अनुराग उसके मुख पर रङ्ग रहा है। उससे भयभीत होकर उसने कहा—"ना, ना, तुम जाओ, मैं नहीं लूँगी।"—कहकर भगवती चलने लगी।

युवक ने नम्रता से कहा—"ज़रा ठहरो तो भगवती, एक बात और कहनी थी।"

"जल्दी कहो ?"

"तुम्हें एक बात मालूम है ?"

"कौन बात ?"

स्थिर दृष्टि से भगवती को देखते-देखते युवक ने कहा—"पहले मेरे साथ तुम्हारा ब्याह पक्का हुआ था।"

"मालूम है।" यह कहकर भगवती ने दूसरी ओर को मुँह फेर लिया।

युवक ने देखा, कि उसकी आवाज़ दुःख से लबालब है। उसने उसी प्रसङ्ग में कहा—"अगर वैसा होजाता भगवती ?"

भगवती ने अन्यत्र देखते-देखते वेदन से कहा—"हो कैसे जाता ? भगवान् जो करते हैं—वही होता है।"

"अच्छा, जो भगवान् ऐसा करते ?"

"पर किया तो नहीं।"

"और यदि ऐसा करते तो ?"

"तो क्या ?" कहकर भगवती ने उदास दृष्टि से युवक की ओर देखा।

युवक ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"तो क्या तुम ऐसी गली की भिखारिन की तरह मारी-मारी फिरतीं? तुम्हें क्या भाभी की जूतियाँ उठानी पड़तीं?—झूठे टुकड़ों का आसरा तकना पड़ता?"

भगवती रो उठी। बालिका बिना रोये कैसे रह सकती थी?

उसके सामने उसका सब कष्ट रख दिया गया था। उसने रोते-रोते कहा—"जो भाग्य में लिखा है, वही होता है।"

"वही तो मैं कहता हूँ। तुम्हारे पिता ज़िद न पकड़ते, तो आज मेरी सारी सम्पत्ति तुम्हारी होती—मैं तुम्हारा दास होता; जिनकी तुम ग़ुलामी करती हो, वे तुम्हें फूल सी तरह हाथों में लिये फिरते! सुहागिन क्या तुम्हें देखकर मुँह छिपाती?—अपने-अपने बालकों पर छाया भी न पड़ने देतीं? वे तुम्हें सखी बनाने को ललचा उठतीं........?"

भगवती के मन में तूफ़ान उठने लगा। उसने स्पष्ट देखा—एक पर्वत के शिखर पर सुख के ढेर लगे पड़े हैं, पर वहाँ पहुँचने का द्वार बन्द होगया है। जब द्वार खुला था, तो उसके बाप ने उसे नहीं जाने दिया था, पर उस ओर देखना भी वृथा है। भगवती ऐसी ही बात सोच रही थी। अचानक उसे चेत हुआ, और "मैं जाती हूँ" कहकर वह चलदी।

युवक ने उसके पीछे चलते-चलते कहा—"छलिया को भेजूँगा। देखो, जिससे यह बात कोई न जाने........।"

भगवती ने भयभीत होकर कहा—"तुम मेरे पीछे मत आओ। कोई देख लेगा।"

युवक खड़ा देखता रहा। भगवती लपककर चम्पा के घर में घुस गई।

चौदहवाँ परिच्छेद

—:※:—

फिरपू ने दादी के नाक में दम कर दिया। उसे कुरते की ज़िद चढ़ गई है। गोपाल का नया कुरता वह देख आया है, अब वैसी ही कुरता वह पहनेगा। पहले वह अपनी माँ के पास गया, पर हरदेई ने एक ही धमूके में उसका मिज़ाज ठीक कर दिया। फिरपू हताश न हुआ, वह दादी के सिर हो गया। उसने बहुतेरा बहलाया, पर उसने एक न सुनी। अन्त में हारकर गृहिणी ने अपनी कपड़ों की बुकची खोली, और डोरिया निकालकर, कुरता सीने लगी। फिरपू उसके सामने प्रसन्नतापूर्वक पालथी मारकर बैठ गया।

दादी ने कैंची चलाते-चलाते कहा—"देख फिरपू! यह कुरता सीकर सन्दूक में धर देंगे! तीजों के मेले पर पहनकर दादा के साथ मेले में जाइयो।"

फिरपू ने बड़े ध्यान से दादी की बात सुनकर कहा—"नई सन्दूक में?"

"हाँ-हाँ, नई सन्दूक में रख देंगे।"

फिरपू ने कुछ देर सोचकर कहा—"तो तीज कब आवेंगी?"

"बस, अब आवेंहीगी—थोड़े दिन और हैं।"

किरपू ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा।"

इतने में ही सुखिया आ पहुँची।

किरपू ने ताली बजाते-बजाते, कुरते की तरफ़ उँगली उठा-कर कहा—"देख, छुखिया—हमाला कुलता!"

सुखिया हाथ की गुड़िया को फेंककर बोली—"काँ है?"

किरपू ने फिर उँगली कुरते पर रखकर कहा—"ये रहा। हम दादा के छंग तीजों के मेले पै इछे पैन के जांगे।"

सुखिया ने भाई के पास बैठते-बैठते कहा—"हम भी जांगे दादा के छंग।" इतना कहकर उसने कुरते की बाँह से नाक पोंछ डाली।

"हम नया कुलता पैन के जांगे।"

"औल हम बी नया कुलता पैन के जांगे।"

"तो तू भी छिलवाले—नया कुलता।"

सुखिया ने दादी से कहा—"दादी, हमें बी कुलता छीं दे।"

दादी ने तनिक झुड़ककर कहा—"चुप रह! लौंडिया कुरता नहीं पहना करतीं।"

बालिका ने अचरज-से पूछा—"क्यों?"

"हौवा पकड़कर ले जावेगा।"

बालिका पर आतङ्क छागया। वह चुपचाप बैठी, दादी का सीना देखती रही। कुछ कर्तव्य न सूझा। उसने हताश होकर भाई की तरफ़ देखा। किरपू ने उसे रोनी सूरत में देखकर,

हँसकर, और सैन मटकाकर, फिर उँगली से अपने कुरते की तरफ़ सङ्केत किया।

अब की बार बालिका ने कुनकुनाकर कहा—"ऊँ ऊँ! हम तो कुलता लेंगे।"

दादी उसकी बात पर कान न देकर, कुरता सी रही थी। बालिका ने यत्न निष्फल जाते देखकर, फिर भाई की तरफ़ हताश दृष्टि से देखा। किरपू पूरा नटखट था, उसने फिर उँगली से संकेत करके मानो कह दिया, कि—"देख, यह रहा, हमारा कुरता।"

अब तो सुखिया ने अमोघ शस्त्र सँभाला। वह फैल भरकर धरती पर लेट गयी।

दादी ने कोप से उसे देखते-देखते कहा—"अच्छा सुखिया, तू न मानेगी? ठहर, अभी गंगासहाय बावले से तेरे कान कतर-वाऊँगी। तू बड़ी बिगड़ गई है—भला?"

सुखिया ने डर से एक बार अपने कानों को अच्छी तरह टटोल लिया, और फिर रोने-मचलने लगी। उसके रोने की आवाज़ सुनकर भगवती धीरे-धीरे वहाँ आई। उसने माँ से कहा—"क्या तूफ़ान मचा रक्खा है?"

किरपू ने संक्षेप से सब दास्तान एकदम सुना दी।

उसने उठकर, भगवती का आँचल पकड़कर कहा—"बीबी! हमाला कुलता है—सुखिया का नईं। बोलो है?"

भगवती ने सुखिया को गोद में उठा लिया। उसकी धूल

झाड़-पुचकारकर बोली—"वाह जी ! अपनी रानी को हम बड़ा अच्छा कुरता बनावेंगे—झल्लर लगाकर। किरपू को दिखावेंगे भी नहीं।"

किरपू ने मुँह फुलाकर कहा—"छुखिया, हमें कुलता न दिखावेगी ?"

सुखिया ने सिर हिलाकर साफ़ इन्कार कर दिया।

किरपू ने कहा—"अच्छा, हम थी नईं दिखावेंगे।"

सुखिया ने उसकी कुछ भी परवाह न की। इतने ही में हर-देई उधर से आ निकली। उसने कहा—"क्या है री सुखिया ?"

"बीवी हमें कुलता देगी।"

हरदेई ने हँसकर एक धप उसकी पीठ में जमाकर कहा—"मुण्डो ! बुआ कहा कर।"

सुखिया ने कहा—"नईं बीवी।

"जा रॉड !" कहकर वह एक तरफ़ चल दी। अचानक उसने द्वार की तरफ़ देखकर कहा—"ओहो छुनिया ! आज तू किधर रास्ता भूल गई ? आज ज़रूर मेंह बरसेगा !" सब ने आँख उठाकर देखा—छुनिया नायन आरही है।

गृहिणी ने हँसकर कहा—"अरी छुनिया, बड़े दिनों में आई।"

छुनिया ने हँसते-हँसते गृहिणी के पैर छूकर कहा—"क्या कहूँ ताईजी, घर-गिरस्त के काम-धन्धों को तो तुम जानती हो ! (भगवती की ओर देखकर) ओहो, भग्गो है ! अरी राज़ी है ? बड़ी हार रही है !"

भगवती एक बार सिर से पैर तक काँप उठी। वह मुँह फेर-कर सुखिया को ले बैठी।

छजिया ने गृहिणी से पूछा—"क्या भी उसी की है?"

वृद्धा को मुँह खोलने की ज़रूरत ही न पड़ी। फिरपू ने तुरन्त कह दिया—"हमाला कुलता है।"

छजिया ने हँसकर कहा—"ओहो! फिरपू बाबू, तुम्हारा कुरता है?"

"हाँ, हम दादाजी के छंग मेले में जांगे।"

छजिया ने हँसते-हँसते फिरपू को गोद में उठा लिया।

सुखिया ने भगवती से कहा—"बीबी, हमें कुलता दो।"

छजिया ने फिरपू को गोद से उतारते-उतारते कहा—"आ, इधर आ! मैं दूँ तुझे कुरता।" इतना कहती-कहती सुखिया के लेने को वह भगवती की ओर लपकी। भगवती बड़ी घबराई, पर छजिया ने उसी के पास बैठकर कहा—"क्यों भग्गो बीवी, मुझ-से बोलती भी नहीं हो? क्या नाराज़ हो?—या मुझे पहचानती नहीं हो?"

गृहिणी ने कहा—"इसके सभी लच्छन ऐसे हैं। घर में इतनी लुगाई आती हैं, पर किसी से बात ही नहीं करती; दिन-भर किताबों को लिये बैठी रहती है। बाप ने किताब लादी हैं। जाने क्या-क्या आप ही बाँचा करती है। ज्ञान की बातें हमारी समझ में तो आती नहीं हैं।"

छजिया ने नख़रे से कहा—"तुम्हारी समझ में आवें पत्थर ! ताईजी, अब क्या बूढ़े तोते पुरान पढ़ेंगे ?"

गृहिणी ने हँसकर कहा—"हमारी जब ऐसी उमर थी, तब तो किताबों का नाम भी नहीं सुना था बहन। यह नई ताँती हुई है—इसकी सभी बातें नई हैं।"

छजिया ने भगवती का हाथ पकड़कर कहा—"क्यों भग्गो, तुम्हें किताबें आदमी से भी अच्छी लगती हैं ?"

गृहिणी ने कहा—"बस, एक चम्पा से तो इसकी घुटती है। जिस दिन वह आजाय, उस दिन इनकी बातों का तार नहीं टूटता।"

छजिया हँस पड़ी। उसने कहा—"ताईजी, बराबरवालियों में सभी का जी लगता है।"

सुखिया अब तक चुपचाप बातें सुनती रही थी, अब उसने कहा—"ला कुरता दे।"

मुँह चूमकर छजिया बोली—"हाँ-हाँ ! अपनी बिटिया को बड़ा अच्छा कुरता दूँगी। बता, कैसा कुरता लेगी—सुखिया ?"

"ऐछा", कहकर उसने दादी के घुटनों में दबा हुआ कुरता उँगली से दिखा दिया।

छजिया ने कहा—"अच्छी बात है—अभी बज़ाज़ को बुला-कर पाँच-छः थान मँगवाती हूँ।"

भगवती ने हँसकर कहा—"थोड़े-न-बहुत—पाँच-छः थान ?"

छजिया ने और भी हँसकर कहा—"सुखिया को नीचे से

ऊपर तक कुर्तों में दाव दूँगी—थोड़े से न बनेगा।"

थोड़ी देर तक सब हँसते रहे। सुखिया ने इस उपहास का कुछ भी अभिप्राय न समझा, बड़ी देर तक सब का मुँह देखती रही। फिर वह भी हँस पड़ी। 'जैसी बहै बयार पीठ पुनि तैसी दीजे'—इसका उसने भी अनुकरण किया। पर तुरन्त ही उसे अपने कुरते की याद आई। उसने मचलना शुरू किया। छुलिया ने दूसरे उपाय का अवलम्बन किया। उसने अपने आँचल में से एक गाँठ खोली। सब ने देखा, उसमें मिठाइयों का दोना है। भगवती उसे देखकर सहम गई। छुलिया ने एक दृष्टि उस पर डालकर कहा—"आरे किरपू, तू भी ले, और सुखिया, ले, तू मिठाई खा। कुरते का क्या करेगी?"

किरपू और सुखिया दोनों आ जुटे। छुलिया ने दो-दो लड्डू दोनों के हाथ में धर दिये। गृहिणी ने कहा—"यह क्या करती है, छुलिया? ठहर, ठहर!"

इतना कहकर उसने किरपू और सुखिया को पकड़कर अपनी तरफ़ खींच लिया।

छुलिया ने कहा—"ताईजी! तुम बालकों के बीच में भाँजी मत मारा करो। वाह! ले रे किरपू! यह गुझिया और ले ला।"

गृहिणी ने कहा—"कहाँ से लाई है? सब यहीं लुटा जायगी—या छिट्टू के लिये भी ले जायगी?"

"छिट्टू क्या इनसे भी ज़्यादा है? लेरी सुखिया।" कहकर एक पेड़ा उसने उसके हाथ में पकड़ा दिया। फिर उसने कहा—

"आज पच्छिम तरफ़ चली गई थी। वहाँ हरगोविन्द मिल गए। उन्होंने आवाज़ देकर बुलाया, और मिठाई बाँध दी! बेचारे बड़े भले आदमी हैं।" इतना कहकर उसने भगवती की ओर तिरछी नज़र से देखा। भगवती काँप रही थी। छलिया ने कहा—"ले री भग्गो! तू भी ले! मेरे-जाने तो जैसे ये बालक, वैसी भग्गो।"

भग्गो ने कहा—"मैं तो नहीं लेती।"

"वाह! नहीं कैसे लेगी?" इतना कहकर छलिया भगवती से लिपट गई। गृहिणी ने कहा—"रहने दे छलिया! उसके भाग में मिठाई खानी होती, तो उसका भाग ही क्यों फूटता?"

छलिया ने कहा—"तुझे मेरी सौगन्ध! न लेगी, तो मेरा जी बड़ा दुखेगा।"

भगवती ने कहा—"अच्छा ठहर।" इतना कहकर एक लड्डू उठाकर कहा—"बस!"

"बस नहीं, सब ले। मेरे और कौन बैठा है!" इतना कहकर वह दोना वहीं पटककर अपनी जगह आ बैठी।

गृहिणी ने सीते-सीते मुँह भारी करके कहा—"इसी लौंडे से ब्याह की बात-चीत पक्की हुई थी। जो यही होता, तो आज मेरी भग्गो को कौन पाता?" गृहिणी के नेत्रों से पानी टपक पड़ा। उसे हाथ से पोंछकर वह फिर सीने लगी।

छलिया ने कहा—"अब पछताने से क्या है जी! विधाता ने जहाँ जिसकी जोड़ी रखी है, वहीं काम होता है। ऐसे वर

क्या जगह-जगह मिलते हैं? कैसा सुन्दर कमाऊ पढ़ा-लिखा लड़का है—कुन्दन की तरह शरीर दमकता है!"

भगवती सुखिया को लेकर चल दी। उससे वहाँ ठहरा ही न गया।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

—:※:—

राजा साहब का नाम न बतलाना ही अच्छा है। यह तो हम कह ही चुके हैं, कि उसकी आयु चालीस के लगभग है, रङ्ग साँवला, और आँखों में लम्पटता कूट-कूटकर भरी है। प्रजाजनों में उनके अत्याचार से त्राहि-त्राहि मच गया था। किसी की भी बहू-बेटी की इज़्ज़त सलामत न थी। इस बात को लेकर सरकार से उन्हें बहुत मलामत मिली। अन्त में रियासत कोर्ट-ऑफ़-वार्ड्स हुई, और आपको मिलता है, वज़ीफ़ा। अब आप शहर में रहते, और निश्चिन्त अपने लुच्चे-लफ़ङ्गे नौकरों-द्वारा शहर की बहू-बेटियों का सर्वनाश किया करते हैं। इस समय वे अपनी आराम-कुर्सी पर धूप में पैर फैलाये पड़े पान चबा रहे थे, और एक दुबला-पतला कमीना-सा आदमी सामने ज़मीन पर बैठा, निर्लज्जता से भिन्न-भिन्न बातें कर रहा था। राजा साहब ने कहा—"तो आख़िर घर का पता तो लग-ही गया? वह अकेली ही तो रहती है?"

"जी हाँ, उसके सिवा वह बुढ़िया मकानवाली है, सो वह हत्ते चढ़ गई है, और सौ-पचास रुपये पाकर वह सब काम कर देगी। सब काम सहूलियत से हो जायगा। मगर एक बात है!"

राजा साहब ने अकचकाकर कहा—"वह एक बात अब कौन-सी है?"

"वह नौजवान, जिसने उसे उस दिन छुड़ाया था।"

"उसकी क्या बात है?"

"वह नित्य-ही उसके पास आता है।"

"उससे उसका क्या सम्बन्ध है? क्या वह उसका रिश्ते-दार है?"

"बुढ़िया के कहने के अनुसार तो वह उसी दिन से आता है।"

"तब तो वह हमारे रास्ते का कण्टक है। साले को साफ़ ही न कर दिया जाय?"

"क्या ज़रूरत है? ऐसा न किया जाय, कि साँप मरे न लाठी टूटे।"

"तो तुम यह समझते हो, कि तुम उसे बग़ीचे में ले आओगे?"

"इसमें कुछ भी गोल-माल न होने पावेगा।"

"अच्छी बात है, ठीक आठ बजे। समझ गये न?"

"जी हाँ। तो अब मैं जाता हूँ। मैं एक किराये की गाड़ी

ले लूँगा। हुज़ूर नाराज़ न हों, तो इनाम की बाबत कुछ अर्ज़........"

राजा साहब ने जेब से कुछ नोट निकालकर फेंक दिये। वह व्यक्ति सलाम करके चल दिया।

जिस समय उपरोक्त बात-चीत हो रही थी। दोपहर का समय था। वह व्यक्ति सीधा चलकर वृद्धा के पास आया, और बड़ी देर तक बात-चीत करता रहा। उसने वृद्धा के हाथ में कुछ रक़म भी धर दी। उसने उसे चुपचाप लेकर कहा—"काम बड़ा सङ्गीन है। मैं उस लड़के से बहुत डरती हूँ। यदि उसे कुछ पता लग गया, तो बुरा होगा।"

"तुम ख़ातिर जमा रक्खो—तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा।" यह कहकर वह आदमी चला गया।

उस आदमी के चले जाने के बाद ही बुढ़िया ने ऊपर जाकर देखा—सुशीला सीने के काम में लगी हुई है। उसने पास बैठकर मीठे स्वर से कहा—"हर वक़्त न सिया कर। कभी फ़ुरसत से भी बैठा कर, कपड़े-लत्ते भी साफ़ रखाकर—यह भी कोई ढङ्ग है। अब तो तुम्हें ख़र्च की वैसी तङ्गी नहीं।"

"नहीं चाची, भाई साहब पर इतना भार डालना क्या अच्छा है? मुझे अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिये महनत करना ही अच्छा है।"

"पर महनत में मर मिटना तो अच्छा नहीं।"

"चाची, अब तो मैं पहले से चौगुनी महनत कर सकती हूँ।

अब मुझे चिन्ता क्या है ? भगवान् ने भाई को भेज दिया है ।"

"तभी तो कहती हूँ, इतना काम न किया कर । हाँ, सुना था, आज वे कुछ बीमार हैं ।"

सुशीला ने सुई रोककर कहा—"किसने कहा ?"

"मेरा एक रिश्ते का लड़का वहीं पढ़ता है, वह कहता था । उसका कहना था—वे एकाएक ही बीमार पड़ गये हैं ।"

"कल ही तो आये थे—भले-चङ्गे ।"

"शरीर का क्या ठिकाना ?"

"और अभी आने की बात भी थी । उन्हीं की तो क़मीज़ सी रही थी ।"

बुढ़िया घबराई । उसने कहा—"देखो आवेंगे, तो मालूम पड़ जायगा, लड़का झूठा तो नहीं ।"

"चाची, एक बार उसे भेजकर हाल-चाल मँगवा तो लेतीं ।"

"अच्छी बात है, मैं अभी जाती हूँ ।" यह कहकर बुढ़िया उठकर नीचे आई । वह द्वार पर प्रकाशचन्द्र की प्रतीक्षा में बैठी रही ।

प्रकाशचन्द्र ने आते ही हँसकर कहा—"कहो चाची, आज तो द्वार पर ही बैठी हो ! सुशीला भीतर है न ?"

"कहीं पड़ौस में किसी के घर गई है । अभी तक नहीं लौटी, उसी की इन्तज़ार में बैठी हूँ ।"

प्रकाश भीतर जाते-जाते रुक गये । कहा—"वहाँ क्यों गई है ?"

"उनकी लड़की से बहनापा है, आपस में मिलती-जुलती रहती हैं।"

"तब अभी लौटने की कोई उम्मीद नहीं।"

"कैसे कहा जाय, बच्ची ही तो है। कोई ऊपर तो है नहीं, जो डाट-डपट करे।"

"मैं तो ज़्यादा ठहर सकता नहीं। तुम कह देना, कि प्रकाश आया था। मैं कल आऊँगा।"

प्रकाश चला गया।

वृद्धा घर में आकर बैठी—दिन छिप गया।

सुशीला ने वृद्धा की कोठरी में आकर कहा—"चाची, कुछ ख़बर आई?"

"आई तो। सुना, वे बेहोश हैं।"

"कोई अपना भी नहीं है।"

"वहाँ अपना कौन है?"

"फिर क्या करना चाहिये?"

"कल फिर ख़बर मिल सकेगी।"

"चाची, यह तो बड़ी बुरी ख़बर है।"

"फिर मैं क्या करूँ बेटी? तू कहे, तो तुझे ले चलूँ।"

"वहाँ क्या स्त्रियों को जाने की इजाज़त है?"

"है तो, मैंने लड़के से पूछा था।"

सुशीला सङ्कोच में पड़ गई। कुछ ठहरकर उसने कहा—"चाची, फिर चलो; एक गाड़ी मँगालो।"

वृद्धा सहमत हुई।

गाड़ी आई, और अबोध बालिका उस पर चढ़ बैठी—दुष्टा विश्वासघातिनी वृद्धा उसे ले चली।

बालिका को मार्ग का ज्ञान न था। फिर रात्रि का अन्धकार। जब एक विशाल बाग़ में गाड़ी खड़ी हुई, और वृद्धा ने कहा—"उतरो," तब सुशीला को चेत हुआ। वह घबराई हुई थी—निश्शङ्क उतरकर साथ हो ली। सामने के वृक्ष के नीचे से भूत की भाँति एक मनुष्य-मूर्ति ने उनका अनुसरण किया।

सुशीला ने वृद्धा का हाथ पकड़कर कहा—"चाची, वह पीछे-पीछे कौन आ रहा है।"

"कोई नौकर होगा।" यह कहकर वृद्धा उसका हाथ पकड़कर, तेज़ी से आगे को चलदी। बालिका ने देखा—आगे-आगे अँधेरे में एक और आदमी जा रहा है, वृद्धा उसका अनुसरण कर रही है।

एक शङ्का की छाया सुशीला के हृदय में उठी। उसने खड़ी होकर कहा—"चाची, लौट चलो। मेरी इच्छा वहाँ जाने की नहीं है।"

वृद्धा ने कठोर स्वर में कहा—"इतनी दूर आकर लौटना भी हँसी-खेल है! आई हो तो मिलती चलो।"

सुशीला जमकर खड़ी होगई।

हठात् एक बलिष्ठ पुरुष ने पीछे से आकर, उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया, और उसे हाथों-हाथ उठाकर चल दिया।

सोलहवाँ परिच्छेद

सन्ध्या होगई। धीरे-धीरे अन्धकार फैल रहा है। गायें रम्भा रही हैं। उनके दुहने का मधुर शब्द सुनाई दे रहा है। ऐसे समय में छुनिया नायन ने जयनारायण के घर में प्रवेश किया। गृहिणी उस समय गौ-सेवा में लग रही थी, और हर-देई रसोई बना रही थी। नारायणी आँगन में पीढ़ी पर बैठी थी। अभी वह दुर्बल थी। बैठी-बैठी वह किरपू और सुखिया को दूध-बताशे से रोटी खिला रही थी। भगवती अपनी कोठरी में बैठी, कुछ अनमने भाव से दरी की डोरी बट रही थी। कमरे में अँधेरा छागया था, पर वह बैठी ही थी। छुनिया ने वहाँ पहुँच-कर कहा—"अरी, क्या कर रही है?"

भगवती ने चमककर छुनिया की ओर देखा। कुछ देर तक वह उसी की ओर देखती रही, फिर गिड़गिड़ाकर कहा—"छुनिया! छुनिया!! तू इस तरह मेरे पास मत आया कर। देख, मैं तेरे हाथ जोड़ूँ, तू रोज़-रोज़ यह सब क्यों ले आती है?"

छुनिया ने आँचल की गाँठ खोलते-खोलते हँसकर कहा—"पगली कहीं की! तुझसे सौ बार तो कह चुकी हूँ—डर किस बात का है? मुझे क्या तैंने योंही समझ लिया है? हवा को तो ख़बर होती ही नहीं है।" इतना कहकर, उसने ताज़ी मिठाई

का एक दोना उसके हाथ में दे दिया। भगवती ने उसे डरते-डरते हाथ में ले लिया। छुनिया ने कहा—"कपड़ों के बुक़चे में छिपाकर रख आ।" भगवती ने वही किया। मिठाई छिपाकर भगवती कठपुतली की तरह फिर छुनिया के पास आ खड़ी हुई। छुनिया ने मुस्कराकर कहा—"बता, और क्या चाहिये?"

"कुछ नहीं, अब तू जा। देख, माँ न आजाय।"

"माँ आजयगी, तो क्या है?—आजाय!"

"तुझे यहाँ अकेली मेरे पास खड़ा देखकर क्या कहेगी?"

छुनिया ने कटाक्ष-पात करके कहा—"क्या कहेंगी? मैं कोई हरगोविन्द तो हूँ नहीं। लुगाई के पास लुगाई आती ही है—उसमें कहना-सुनना क्या है?"

भगवती ने उलटकर कहा—"अच्छा, अब तू जा।"

"अच्छा जाती हूँ, पर और चीज़ सब वापस लेजाऊँ क्या?"

भगवती ने जल्दी में कहा—"और क्या है?"

"कुछ ही हो, तुझे तो 'जा-जा' लग रही है।" इतना कहकर छुनिया नख़रे से चलने लगी।

भगवती ने तनिक हँसकर कहा—"अच्छा, बता तो क्या है। फ़िक्र मत कर।"

"तैंने कुछ उस दिन मँगाया था?"

"किस दिन?"

"किस दिन! अब याद थोड़े ही है?—जिस दिन नदी नहाने गई थी?"

"हाँ-हाँ, कंघी। जैसी चम्पा के पास थी—रबर की!"

"यह लो।" कहकर एक जोड़ा बढ़िया कंघियों का छलिया ने भगवती के हाथ पर धर दिया।

भगवती ने बड़ी प्रसन्नता से उन्हें लेकर कपड़ों में छिपा लिया।

छलिया बोली—"सिर में लगाकर तो देख।"

"नहीं-नहीं, अभी नहीं—सोती बार।"

"सोती बार कौन देखेगा? ऐसी चीज़ पहनकर साजन को दिखाते हैं।"

भगवती सिकुड़ गई। उसने कहा—"छलिया, अब तू जा; फिर आइयो।"

छलिया ने कहा—"अच्छा, जाती हूँ, पर इस बात का क्या जवाब रहा?"

भगवती के शरीर का रक्त-प्रवाह रुक गया। वह खड़ी-खड़ी पसीने में नहा गई, आँखों में अँधेरा छा गया, मुँह से शब्द न निकला।

छलिया ने उसके कन्धों पर हाथ रखकर धीरज से कहा—"इतने घबराने की क्या बात है? सब काम ऐसी उस्तादी से होगा, कि कानों-कान किसी को ख़बर न पड़ेगी, और तू अब बालक तो है नहीं। भगवान् ने औरत-मर्द का जोड़ा बनाया ही है। जब मेरी उमर तेरे बराबर थी……।"

कुछ ठहरकर उस दुष्टा ने एक कटाक्ष फेंककर कहा—

"अपने भाई-भौजाई को ही देखले ! तेरा जन्म क्या इसी अँधेरी कोठरी में सड़ने को है ? कैसा चाँद-सा मुखड़ा है !" इतना कहकर, छुनिया ने भगवती के मुख पर हाथ फेर दिया ।

भगवती की जीभ में बोलने की शक्ति नहीं थी । पसीना पनाले की तरह बह रहा था ।

छुनिया फिर कहने लगी—"और वह भी कैसा जवाँमर्द है । झूठ नहीं कहूँगी—दिन-रात तेरा ही नाम उसकी ज़बान पर रहता है । तेरे आगे रुपये-पैसे को तो वह कुछ समझता ही नहीं । वो-वो रेशमी ऐसी साड़ी लाकर रक्खी है, कि देखा करें—पर भेजी इसलिये नहीं, कि कोई देखे-भाले तो नाम धरे । जिस दिन उसे पहनेगी, तू-ही-तू दीखेगी ।"

भगवती बेसुध-सी होरही थी । उसने बात काटकर कहा—"अब तू जा । देख, कोई सुन न ले ।"

"सुनेगा कौन ? अच्छा, तो बता–एक जवाब मिलना चाहिये ।"

भगवती ने घबड़ाकर कहा—"नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊँगी ।" इतना कहकर भगवती छुनिया को धक्का देकर जाने का संकेत करने लगी ।

छुनिया ने हाथ झटकाकर कहा—"यह कैसी बात बीबी ? न जाओगी, तो कैसे बनेगा ? यह इतना ख़र्च-परेशानी तो इसीलिये उठ रहा है ।"

भगवती ने बात काटकर कहा—"नहीं-नहीं, मैं न जाऊँगी । इन्हें तू लेजा, फिर मत लाइयो—मुझे नहीं चाहियें ।"

अब की बार छुनिया ने दूसरा शस्त्र निकाला। उसने कहा —"समझ-सोचकर बातें करो भगो बीबी, पहले तो तुमने माल उड़ाये, अब काम के वक़्त 'ना-ना' करती हो। इस तरह तो न चलेगा। तुम्हारे बाप को सब ख़बर करदी जायगी। मर्द की जात को जानती नहीं—उसका कुछ नहीं बिगड़ता, पर तुम्हारी हड्डी-पसली चूरा-चूरा हो जायगी। मुँह काला होगा, वह अलग! वही मसल होगी, न माया मिली न राम!"

दवा कारगर हुई। छुनिया का एक एक शब्द तीर की तरह भगवती के कलेजे में पार होगया। भय, उद्वेग, चिन्ता से वह पागल होगई। वह हाथ जोड़, घुटनों के बल छुनिया पैरों में गिरकर रो-रोकर कहने लगी—"छुनिया, मेरी अच्छी छुनिया, मेरी जान बचा! छुनिया, मैं तेरी कानी गऊ हूँ!" इतना कहकर भगवती उस नीच स्त्री के पैरों पर लोटने लगी।

जिस प्रकार प्रफुल्ल नेत्रों से शिकारी अपने वश में आये हुए शिकार को देखता है, ठीक वैसा-ही भाव छुनिया के नेत्रों में फूट-पड़ा। अबोध बालिका का हाथ पकड़कर उसने उठाया, और दिलासे के स्वर में कहने लगी—"मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ, कि मेरे मन के माफ़िक चलेगी, तो कुछ डर नहीं है; सब काम ठीक बैठ जायगा। जब तक मेरा दम है, मज़े में मौज उड़ा। किस की मजाल है, जो तुमसे आँख भी मिलावे।"

भगवती ने रोते-रोते कहा—"तो मैं वहाँ कैसे जाऊँगी छुनिया? कोई देखेगा, तो क्या कहेगा?"

इतने घबराने की क्या बात है ? सब काम ऐसी उस्तादी से होगा, कि कानोंकान किसी को ख़बर न पड़ेगी !

(पृष्ठ १२६)

"अरी बावली, कौन देखेगा? किसी को ख़बर भी न होगी। इसका ज़िम्मा मेरे सिर रहा!"

भगवती चुपचाप बैठी रही। छुनिया ने कहा—"मज़े से रस के घूँट पियेगी तू—और सिर खपाना पड़ता है मुझे! अभी तुझे चस्का नहीं पड़ा है; नहीं इतना सोच-विचार न करती।"

इतना कहकर छुनिया ने हँसकर भगवती को चुटकी भरली। भगवती के मुख-मण्डल से हँसी कोसों दूर थी। वह चुपचाप खड़ी काँप रही थी।

छुनिया ने कहा—"अब जल्दी जवाब दो, तो जाऊँ। देखो, कोई देख लेगा।"

कोई देखता तो नहीं है—इस भय से भगवती ने आँख उठाकर चारों ओर देखा। फिर कहा—"अच्छा, फिर आइयो। तब सोचकर पक्का जवाब दूँगी।"

"बावली हुई है तू? इतने दिन से टाल रही हूँ, आज उन्होंने कहा है कि पक्का जवाब न आवेगा, तो आज ही रस्सा-तोड़ हो जायगा। अब तू देख ले—राज-रानी बनकर मौज उड़ाना मंज़ूर है, या झूठे टुकड़े खाकर कुत्तों की तरह उम्र काटना। माँ-बाप किसी का कोई नहीं है—सब मतलब के हैं। अभी तू सुहागन होती, तो भाभी कैसा आदर करती, पर अब तू देख ही रही है—कैसी-कैसी विपता पड़ रही हैं! भला हो बेचारे हरगोविन्द का, जिसके ख़र्च से जी रही हो, नहीं इस

दुःख में क्या जान बचती ? सो तू अपनी बेवक़ूफ़ी से उन्हें भी नाराज़ कर रही है।"

भगवती की दशा लज्जा, भय, अनुताप और दुःख से अत्यन्त शोचनीय होरही थी। वह बारम्बार कुपथ पर पैर रखने से डर और हिचक रही थी। पर अब उसे कुछ सूझता नहीं था। अन्त में उसने स्थिर करके कहा—"परसों माँ पूरनमासी नहाने गङ्गाजी जावेंगी। भैया भी साथ जावेंगे। घर में भाभी ही रहेगी। चाचाजी हलके में गये हैं ही। तभी दुपहरी को चलूँगी।"

छनिया ने मन की ख़ुशी मन में ही दबाकर कहा—"तो यही बात पक्की रही न ?"

"हाँ-हाँ, पक्की ! पर छनिया, किसी को ख़बर न हो।"

इतना कहकर भगवती ने उसके पाँव पकड़ लिये। छनिया 'इस बात से ख़ातर-जमा रख' कहकर सम्मत हुई।

सत्रहवाँ परिच्छेद

—:०※०:—

पाठक, इस परिच्छेद में जिस घटना का वर्णन् है, उसकी इच्छा हमें तनिक भी नहीं है। पर क्या करें। लेखकों का भाग्य ऐसा नहीं होता, कि इच्छा करने से-ही वे किसी प्रकृत घटना को छिपा जायँ। उन्हें इच्छा से, या अनिच्छा से, जिस तरह हो—सब बात यथावत् कहनी पड़ती हैं। हम भी इस घृणित और

कुत्सित प्रसङ्ग से अपनी लेखनी को काला किये बिना नहीं रह सकते। आज पूर्णिमा का पर्व है। आज भगवती की माता पतित-पावनी गङ्गा में गोता लगा रही है, और आज भगवती घोर पाप-पङ्क में मग्न होने को, छलिया के साथ घर की ड्योढ़ियों से बाहर जारही है। कैसी कटु कथा है,—कैसी दुःखद घटना है! यदि भगवती हमारी भग्नी वा पुत्री होती, तो हम कदाचित् इस बात को ऐसी शान्ति के साथ न पढ़ सकते। मान लें, कि समस्त भारतीय देवियाँ हमारी सगी बहन-बेटी हैं, तो निश्चय भगवती के इस अवःपतन पर आपके हृदय में भयङ्कर वेदना का अनुभव होगा।

ठीक दुपहरी झलझला रही थी—जब छलिया के साथ भगवती ने हरगोविन्द के घर में प्रवेश किया। अपने शयनागार में हरगोविन्द बड़ी उत्कण्ठा से उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। भीता-चकिता भगवती ने उसी कोठरी में प्रवेश किया। छलिया तो बाहर ही से अन्तर्द्धान होगई थी। भगवती का सिर घूम रहा था। पहले तो उसे कमरे में कोई न मालूम हुआ, पर फिर देखा—हरगोविन्द सामने खड़ा, तृषित नेत्रों से उसे घूर रहा है। अब तो उसे पसीना छूट पड़ा। हरगोविन्द ने तभी पास आ, उसका हाथ पकड़कर कहा—"डर किस बात का है भगवती!"

"तुम मुझे घर भेज दो। देखो, मेरा सिर घूम रहा है।"

हरगोविन्द ने कहा—"अच्छा, तुम्हारी इच्छा होगी, तो

भेज देंगे, पर ज़रा तबियत वो ठीक होने दो भगवती! तुम इतना क्यों घबरा रही हो?"

"मुझे बड़ा भय मालूम होरहा है।" भगवती ने कातर दृष्टि से उसकी ओर देखकर कहा।

युवक ने उसका हाथ पकड़ लिया।

"यहाँ घर-भर में कोई नहीं है, डरने की कौन बात है? चलो, ज़रा वहाँ चलकर बैठो।" इतना कहकर, वह पलँग की तरफ़ उसे ले चला। भगवती भी मन्त्र-मुग्धा की तरह चलकर जा बैठी। मानों उसे कुछ दीखता-सूझता नहीं है।

हरगोविन्द ने उसकी चादर उतारते-उतारते कहा—"बड़ी गर्मी है। कपड़ा हलका करो! गर्मी से तुम्हारा जी बड़ा ख़राब होगया है।"

भगवती ने चादर को दृढ़ता से पकड़कर कहा—"ना, ना, चादर मत उतारो! अच्छा, अब मैं जाती हूँ।"

धूर्त युवक ने मानों बात ही नहीं सुनी। उसने एक हाथ से पङ्खा करना शुरू किया, दूसरे हाथ से उसके वस्त्र हटाते हुए कहा —"इस तरह घबराने से कैसे काम चलेगा? तुम्हें मालूम नहीं है भगवती, तुम्हारे लिये मैं कितना तरस रहा हूँ?"

भगवती ने बात काटकर, उसका हाथ हटाते हुए कहा— "देखो, ये सब बात चिट्ठी में लिख भेजना, अब जाने दो; बड़ी देर हुई। कोई आ न जाय।"

"ऐसी दुपहरी में कौन आवेगा? पगली, बाहर छुनिया

देख-भाल रही है। तुझे मुझ पर तरस नहीं आता ?"......

हाय ! अभागिनी आज लुट गई। नीच दुष्ट ने बलात्कार से असहाया बालिका का सर्वनाश कर डाला !!

ऐ तीस करोड भारत के नर-नारियों ! तुम्हारे हृदय में कुछ सहानुभूति हो, तो इस दलित कुसुम-कली को आश्वासन दो।

अठारहवाँ परिच्छेद

—०※०—

भयङ्कर तूफ़ान आ चुकने के बाद प्रकृति एकदम शान्त हो-जाती है। नर-पिशाच हरगोविन्द जब असहाया बालिका का सर्वनाश कर चुका, तो उसे होश आया, उसे आत्म-बोध हुआ। उसने मन-ही-मन लज्जा, भय, ग्लानि और सन्ताप का अनुभव किया—बारम्बार अपने-आपको धिक्कारने लगा। तदनन्तर कुछ शान्त होकर उसने शय्या की तरफ़ देखा—उस समय बालिका मूर्च्छित पड़ी हुई थी, उसका चेहरा मुर्दे के समान होरहा था। उसने उसके मस्तक पर हाथ रखकर जगाना चाहा, पर देखा—मस्तक बर्फ़ के समान शीतल होरहा है, नाड़ी क्षीण है। अधर्मी युवक एकदम घबरा गया। उसने भगवती के मुख पर पानी के छींटे देकर चैतन्य करने की चेष्टा की, पर कुछ न हुआ, अब वह छुजिया को बुलाने लपका।

छुजिया ने रँग-ढँग देखकर कहा—"क्यों, हुआ क्या ?"

"वह बेहोश होगई है।"

"सो तो होना ही था, तुमसे तनिक धीरज न रक्खा गया। इतनी कोमल लड़की से कहीं ऐसा व्यवहार किया जाता है? मैं उसे धीरे-धीरे आप ही रास्ते पर ले आती।"

हरगोविन्द ने घबराई ज़बान से कहा—"उसे चलकर देख तो सही।"

"अच्छा, मेरा इनाम दो, तुम्हारा सब काम ठीक ठीक-ठीक होगया है।"

"इनाम क्या मारा जाता है, चलकर उसे ठीक तो करो।"

"यह बात झूठी है—पहले इनाम और पीछे काम।"

हरगोविन्द ने पाँच रुपये उसके हाथ पर रखकर कहा—"और पीछे ख़ुश करेंगे।

"अच्छा, यही सही।" कहकर छुनिया भीतर आई।

भगवती अभी तक बेहोश थी, पर इन लोगों के भीतर पहुँचते ही उसे होश आया। छुनिया को देखकर वह गाय की भाँति डकरा उठी।

छुनिया ने कहा—"घबरा मत, अभी सब ठीक हुआ जाता है।"

बालिका लज्जा और पश्चात्ताप से छटपटाने और रोने लगी। उसने उठने की चेष्टा की, पर सिर में चक्कर आने से गिर पड़ी।

छुनिया बड़ी ही घाघ थी। उसने ऐसे-ऐसे अनेक अवसर

देखे थे। उसने कहा—"बाबू! तुमने बड़ा ग़ज़ब किया, आज का इनाम पूरा-पूरा लूँगी।"

हरगोविन्द घबरा रहा था। उसने कहा—"तू इसे यहाँ से ले तो जा बाबा, इनाम क्या माँगता है?"

छुनिया ने हरगोविन्द को बाहर भेज दिया, और पंखे से भगवती की हवा करने लगी। कुछ देर में भगवती की तबीयत कुछ ठीक हुई, तो वह गिड़गिड़ाकर कहने लगी—"छुनिया! मुझे घर पहुँचा। हाय! मैं लुट गई!"

"घबराओ नहीं, कोई कानों-कान न जान पायेगा।"

भगवती कुछ काल तक चुप बैठी रही। अब एकाएक वह उठ खड़ी हुई। छुनिया ने कहा—"कुछ देर और ठहरो।"

पर भगवती ने एक न सुनी। वह सीधी अपने घर चली।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

—:०:—

कुपथ पर पैर रखना ही बुरा है। एक बार जो गिरा, फिर सम्हल नहीं सकता। मकड़ी के जाले में मक्खी फँसकर जितना ही निकलने के लिये छटपटाती है, उतना ही अधिक फँसती है। अभागिनी बालिका भगवती की भी यही दशा हुई। गत परिच्छेदों में जिस घटना का वर्णन् किया गया है—उसे आज तीसरा ही दिन है। छजिया फिर उसे लेने को आ-उपस्थित हुई है—उसका प्रस्ताव सुनते ही भगवती भयभीत दृष्टि से उसके मुख की ओर ताकने लगी। छजिया ने कहा—

"इतना डरना किसलिए है? उस दिन किसी को कुछ ख़बर हुई? जब पहला मामला ही फ़तह होगया, तो अब तो बात ही क्या है?" इतना कहकर छजिया चुप होगई। भगवती अब भी उसी प्रकार उसके मुख को ताक रही थी। छजिया ने धीरे-से कहा—"आज चलोगी न?"

भगवती ने खीझकर कहा—"ना, मैं कभी न जाऊँगी। तू जाकरसाफ़ कहदे, और ख़बरदार, जो मेरे पास कुछ चीज़-वस्त लेकर आई तो।"

छजिया ने अचरज की मुद्रा बना, और ठोढ़ी पर उँगली रखकर कहा—"ऐ है! बड़ी नादान बिटिया बनी हो—रोज़-रोज़

समझाना पड़ेगा इन्हें ! पहले दिन न जाती, तो एक बात भी थी । अब तो सब-कुछ होगया । जो सब बात खोल दी जाय, तो कहो, कैसी बने ?"

भगवती किंकर्तव्य-विमूढ़ की तरह बैठी-बैठी छुनिया का मुँह ताकने लगी ।

छुनिया ने कहा—"चलो, अब देर का मौक़ा नहीं है ।"

भगवती अब भी भयभीत दृष्टि से उसे देख रही थी । उसकी लालसा भड़क गई थी । वह कष्ट, लज्जा, भय और कामना के थपेड़ों में पड़कर हतबुद्धि होगई थी । उसने कहा –

"छुनिया, यह काम अच्छा नहीं । तू जा, मैं नहीं जाऊँगी। मैं ज़हर खाकर मर जाऊँगी !"

"पगली, मरेंगे तेरे दुश्मन, अभी तू बहुत-कुछ देखेगी । क्या तुझे मालूम नहीं, वे तेरे साथ पुनर्व्याह की बात-चीत कर रहे हैं ।"

भगवती अधिक देर तक स्थिर न रह सकी । छुनिया फिर उसे उस पाप-पथ पर ले चली । फिर तो यह पथ ख़ूब चला । उन सब बातों को लिखकर हम अपनी लेखनी को कलङ्कित न करेंगे । यही यथेष्ट है, कि भगवती ख़ूब सावधानी से इस पाप-सागर में गोते लगाने लगी ।

बीसवाँ परिच्छेद

—:o:—

इस परिच्छेद में हम अपने पाठकों को एक सर्वथा नवीन प्राणी का परिचय देंगे। हमारी कहानी में पात्र सब से पवित्र और सब से महत्वपूर्ण हैं।

शरद् की विशुद्ध रात्रि थी। बाहर मानों दूध बखेर दिया गया था। शीतल चन्द्रमा की चाँदनी, मन्द पवन और प्रशान्त रात्रि,—इससे भी अधिक और चाहिये क्या ?

नगर के बाहर एक बँगला था। वह उसी उजाली रात्रि में खड़ा, मानों दूध में नहा रहा था। सामने प्रशस्त हरी घास का लॉन, एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य बखेर रहा था।

दो प्राणी धीरे-धीरे इस लॉन पर टहल रहे थे—एक पुरुष, एक स्त्री। दोनों परस्पर सटे हुए, हाथ-से-हाथ मिलाये, दीन-दुनिया से दूर अगाढ़ प्रेम में तन्मय—मानो जगत् में वे दोनों परस्पर एक-दूसरे की हस्ती को छोड़कर और कुछ जानते ही न थे।

पुरुष ने कहा—"प्रिये ! अधीर न हो, प्लेग के प्रबन्ध के लिये मुझे कल-ही देहात में दौरे पर जाना होगा। सरकारी आज्ञा है, चारा नहीं। यहाँ सारा शहर भाग गया है। मेरे

बिना न-जाने यहाँ तुम्हें किस कष्ट में गिरना पड़े। तुम अवश्य ही विनोद को लेकर घर चली जाओ। मैं तुम्हें छोड़ता जाऊँगा, वहाँ निश्चिन्त रह सकोगी।"

"नहीं स्वामी, मैं आपके साथ-ही रहूँगी। प्लेग के भयानक दिनों में मैं क्या आपको अकेला जाने दूँगी?"

"यह तो सब ठीक है, पर स्त्रियों को लेकर सर्वत्र तो नहीं घूमा जाता। फिर प्लेग-प्रबन्ध का भार,—यह तो सोचो। अच्छा, तुम्हारी बात रहे, पर बच्चे का तो ख़याल करो।"

स्त्री पति से लिपट गई। उसने रोते-रोते कहा—"मुझे आप अकेली न छोड़िये। मैं हाथ जोड़ती हूँ। नहीं सरे, इस्तीफ़ा देदो।"

"इस्तीफ़ा दे देना अपमानजनक है। मैं ज़िम्मेदार अफ़सर हूँ। क्या मुझे ऐसे नाज़ुक मौक़े पर इस्तीफ़ा दे देना उचित है? मुझे दुःख है, कि तुम इस समय ऐसी अधीर होरही हो।"

थोड़ी देर तक स्त्री चुपचाप टहलती रही। वह अपने हृदय के दुःख को दबाने की चेष्टा कर रही थी। अन्त में उसने कड़ा करके पति का प्रस्ताव स्वीकार किया।

इन दोनों पति-पत्नी का परिचय भी देना होगा। पति का नाम है, बाबू दीपनारायणसिंह, और पत्नी का कुमुद। आप डिप्टी-कलक्टर हैं। प्रातःकाल ही दोनों ने यात्रा प्रारम्भ कर दी। गोद का शिशु और एक नौकर साथ था।

रेल में भगदड़ मची थी। प्लेग के कारण भीड़ का ठिकाना न था। तीसरे दर्जे में मुसाफ़िर ठसाठस भर रहे थे। बाबू साहब

और उनकी पत्नी सैकिण्ड-क्लास के डब्बे में बैठे थे। बच्चा सो रहा था। स्त्री ने कहा—"आप इस समय इतने उदास क्यों हैं?"

"कह नहीं सकता, दिल ऐसा क्यों होरहा है। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था।"

"रात देर तक ओस में भी तो आप फिरते रहे। ज़रा आप लेट जाइये न।"

बाबू साहब लेट गये, परन्तु उन्हें नींद नहीं आई। थोड़ी देर में स्टेशन आगया। यहाँ सरकारी प्रबन्ध था। यहाँ डॉक्टर, पुलिस और मजिस्ट्रेट सब उपस्थित थे, और प्रत्येक यात्री की स्वास्थ्य-परीक्षा होती थी, और चेष्टा की जाती थी, कि कोई रोगाक्रान्त व्यक्ति आगे न जाने पावे।

स्टेशन पर गाड़ी खड़े होते ही मुसाफ़िरों के चीत्कार से स्टेशन गूँज उठा। प्रत्येक डब्बे की चाबी बन्द थी। सभी लोग डॉक्टरी-परीक्षा से घबरा रहे थे। दोपहर होगया था, देर से पानी न मिला था। अब वे 'पानी-पानी' चिल्ला रहे थे। एक बुढ़िया ने कहा—"हाय! बच्चे को बुख़ार होरहा है, अब क्या करूँगी?"

दूसरी बोली—"ये मुये डॉक्टर पकड़-पकड़कर क्या करते हैं?"

"काली माई की भेंट चढ़ाते हैं।"

दूसरे ने कहा—"अस्पताल में जो गया, सो मरा। वह यमराज का दूसरा घर है।"

"अजी, इनका तो बाप पैसा है; जिसने पैसा दिया, उसका सब काम होगया।"

एक ने कहा—"नहीं जी, सरकार तो जो करती है, वह अच्छा ही करती है।"

दूसरा तिनकक्कर बोला—"तब कुएँ-तालावों में ज़हर क्यों डलवाया है?"

"वह ज़हर नहीं है, दवा है—जो प्लेग के कीड़ों को मारने के लिये है।"

धीरे-धीरे एक डॉक्टर, एक लेडी डॉक्टर, और दस-बारह कॉन्स्टेबिल और एक मजिस्ट्रेट का जत्था गाड़ी के पास के पास आया, और एक सिरे से गाड़ी का मुआयना करने लगा।

"सब लोग नीचे उतर आओ, और अपने-अपने टिकिट निकाल लो! और औरतों असबाब को गाड़ी ही में रहने दो!"

यात्रियों ने चुपचाप प्लेटफ़ॉर्म पर क़तार बाँध ली।

लेडी-डॉक्टर ने स्त्रियों की, और डॉक्टर ने पुरुषों की जाँच करना प्रारम्भ कर दिया। जाँच क्या थी—छूमंतर था—ज़रा छुआ, और मुआयना होगया। परन्तु जिनके चेहरे ज़रा मैले थे, —टिकिट प्लेगी स्थानों से था, उनकी ख़ास तौर पर देख-भाल

की गई। जिन्हें रोकना होता, उनकी तरफ़ पुलीस से संकेत करके वे आगे बढ़ाते।

चालीस-पचास आदमी इस प्रकार पुलीस के पञ्जे में पहुँच गये। उनमें भी कुछ पूछा कर-करके फिर गाड़ी में लौट रहे थे।

डॉक्टरों का दल बाबू साहब के डब्बे के सामने पहुँचा। वे सोये पड़े थे। टिकट-कलक्टर ने डब्बे में घुसकर कहा—"आप कहाँ जायँगे बाबू?"

कुमुद ने कहा—"उन्हें न जगाइये, उनकी तबीयत ठीक नहीं है।"

"आप कहाँ से आरही हैं?"

"रामपुर से।"

"वहाँ तो प्लेग है। बाबू को क्या हुआ है?" डॉक्टर ने गाड़ी में घुसते-घुसते कहा।

बात-चीत सुनकर बाबू साहब जाग चुके थे। उन्होंने कहा—"और कुछ नहीं, थकान से ज़रा तबीयत सुस्त होगई थी, मैं समझता हूँ, ज़रा सोने से ठीक होजायगी।"

डॉक्टर ने थर्मामीटर लगाकर कहा—"साहब, आपको ज्वर है।"

बाबू साहब और कुमुद, दोनों पर वज्र गिरा! डॉक्टर ने कहा—"आपको आराम होने तक यहाँ ठहरना पड़ेगा।"

"यह तो असम्भव है।"

"आपका आगे जाना और भी असम्भव है।"

"मैं डिप्टी-कलक्टर हूँ, और सकारी काम से जारहा हूँ।"

"मैं भी सरकारी काम कर रहा हूँ। मेरा फ़र्ज़ है, कि मैं किसी भी सन्दिग्ध रोगी को आगे न जाने दूँ।"

"पर मैं रोगी नहीं हूँ।"

"क्षमा कीजिये, यह निर्णय करना मेरा काम है।"

"मैं अभी कमिश्नर को तार दूँगा।"

"आप चाहे भी कुछ करें।"

"तब सरकारी काम में यदि विलम्ब हुआ, तो उसके ज़िम्मेदार आप हैं।"

"इन बातों से मुझे कोई सरोकार नहीं।"

"ख़ैर, मेरे साथ मेरी स्त्री और नौकर हैं, उन्हें आप मेरे साथ रहने की व्यवस्था कर देंगे?"

"यह असम्भव है।"

"तब वे लोग अलहदा ठहरेंगे कहाँ?"

"यह मेरे विचार का विषय नहीं।"

"आप बड़े निर्दयी प्रतीत होते हैं।"

डॉक्टर क्रुद्ध होकर बिना जवाब दिये कॉन्स्टेबल को संकेत कर, गाड़ी से उतर गये। विवश, बाबू साहब को उतरना पड़ा। उन्होंने स्त्री से कहा—"तुम भोलू के साथ धर्मशाला में ठहरो, मैं तार भेजकर सुबह तक सब प्रबन्ध कर लूँगा।"

कुमुद ने धैर्य से पति की विवशता देख, आज्ञा माँगी, और पुलिस के पहरे में बाबू साहब अस्पताल में पहुँच गये।

बाबू साहब की रात कैसे कटी—यह जानने का कोई उपाय बेचारी कुमुद के पास न था। नौकर इतना योग्य न था, कि वह कुछ ख़बर लाता। फिर, वह उसे भेजते हुए भय खाती थी, कि वह अकेली कैसे रहेगी? विवश, वह बच्चे को छाती से लगा, धर्मशाला में रात काटने को चली गई, और बड़ी कठिनता से उसमें रात कटी।

अभी प्रभात हुआ ही था, कि पुलिस के दो-तीन आदमी वहाँ आये, और उसे सूचना दी, कि आपके पति को प्लेग का आक्रमण हुआ है, और उनकी हालत ख़तरनाक है। कमिश्नर साहब ने तार के ज़रिये उनके ठहरने और चिकित्सा का पृथक् प्रबन्ध कर दिया है। अब आप चलकर उनके पास ठहर सकती हैं।

सब-कुछ सुनकर कुमुद को काठ मार गया। वह मानो संज्ञा-विहीन होगई। ईश्वर को क्या करना है—इसकी किसे ख़बर? वह झटपट पति की सेवा में जाने को तैयार होगई।

अस्पताल के एक पृथक् और प्रशस्त कमरे में बाबू साहब का प्रबन्ध किया गया था। वे मूर्छित अवस्था में पड़े हुए थे। कुमुद उनकी तरफ़ दौड़ी। परिचारिका ने कहा—"उत्तम हो, आप इनसे संस्पर्श न करें। यह छूत का भयानक रोग है, आप पर आँच आने का भय है।"

"ओह, मुझे उसका भय नहीं, यह समय इन बातों के विचार का नहीं।"

"परन्तु बच्चे का ख़याल तो आपको रखना है।"

कुमुद कुछ क्षण रुकी। इसके बाद उसे नौकर की गोद में देकर कहा—"इसे दूसरे कमरे में लेजा।" इसके बाद ही वह पति का सिर गोद में लेकर बैठ गई।

दो दिन व्यतीत होगये। कुमुद ने अन्न-जल भी नहीं किया है। वह परमेश्वर से लौ लगाये बैठी है। उसके सौभाग्य पर भयानक समय आया है। क्या यह समय टल जायगा? वह बारम्बार ईश्वर को पुकारती थी, रोती थी, और आप ही अपना ढाँढस भी बाँधती थी। ईश्वर को छोड़कर उसका कहीं ठौर न था।

दूसरे दिन तीसरे पहर घर के सभी लोग वहाँ आगये। शहर के ऑफ़ीसरों ने भी अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध कर दिया। कई प्रतिष्ठित डॉक्टरों ने मिलकर चिकित्सा प्रारम्भ करदी। परन्तु कुमुद स्थिर होकर पति के पलँग के पास बैठी है। डॉक्टर की योजना पर ठीक समय पर दवा और पथ्य देती है। मल-मूत्र स्वयं साफ़ करती है।

परन्तु भावी प्रबल है। सब-कुछ होने पर भी बाबू साहब की दशा क्षण-क्षण पर ख़राब होती जारही है। लोगों की आशा भी टूटने लगी। लोग हताश और अनमने होने लगे। कुमुद के लिये यह मानों वज्र-सम्वाद था। वह आशा के कच्चे तार के सहारे चुपचाप बैठी अपना कर्त्तव्य-पालन कर रही थी। एक बार वह बैठी-बैठी चक्कर खाकर गिर पड़ी। सिर में से रक्त की धार बह चली। वह बेहोश होगई। डॉक्टरों ने उपचार किया। पर होश

में आते ही वह फिर पति के पलँग पर आ-बैठी। वह कई दिन से सोई न थी, मूर्च्छा और नींद उस पर आक्रमण कर रही थी। उसकी आँखें झपी पड़ती थीं, और सिर लटका पड़ता था। सभी लोग उससे ज़रा सो रहने के लिये आग्रह करते थे, परन्तु इस समय उसका सौभाग्य-सिंदूर पुँछने की घड़ी निकट आरही थी। सदा के लिये उसके प्रिय पति की जुदाई का समय आरहा था। उसके जीवन की तमाम आशा और भरोसों का सुख-सूर्य डूबने-वाला होरहा था। वह सोती कैसे? पलक भी कैसे मारती? न-जाने कब वह घड़ी आजाय, और कब उसके जीवन में वह दारुण क्षण टूट पड़े! अन्त में वह क्षण भी उसी के नेत्रों के देखते-देखते आगया, और उसके परम प्रिय पति ने अपनी अन्तिम श्वास पूरी की! कुमुद एक वार एकाएक खड़ी होकर चीख़ उठी, फिर वह धड़ाम से धरती पर गिर गई। डॉक्टरों ने समझा, कि यह भी मर गई। परन्तु फिर देखा, साँस चल रहा है। वे उसे होश में लाने के उपचार करने लगे। एक घण्टे में उसे होश आया। होश में आते ही प्रथम तो कुछ देर विमूढ़-सी बनी बैठी रही। उसने चारों तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर देखा, मानों वह उस भयानक दुर्घटना को भूल गई थी, पर जब उसकी दृष्टि पति की लाश पर पड़ी, तो वह एकदम कपड़े फाड़ने और पागल की तरह असम्बद्ध बकने लगी। उसकी दशा देखकर देखनेवालों का कलेजा मुँह को आता था। पर उसे समझाना-बुझाना सम्भव ही न था। दो-तीन स्त्रियें उसे कसकर पकड़े हुई थीं। वह बीच-

बीच में जब बेहोश होजाती, तब कुछ मिनिट को वह शान्त हो-जाती, पर होश में आते ही वह फिर उसी भाँति चिल्लाने लगती।

अन्ततः बाबू साहब की अन्त्येष्टि-क्रिया की गई। तीन दिन सब वहीं रहे। इसके बाद अर्द्ध-विक्षिप्त कुमुद रूप, शोभा, सौभाग्य सब से भ्रष्ट होकर विधवा के वेश में पति-घर को लौटी।

इक्कीसवाँ परिच्छेद
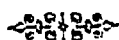
कुमुद की ससुराल बहुत बड़ी थी। ससुर, सास, चार जिठानी, देवरानी, देवर, जेठ, उनके बच्चे, दो कुँवारी, एक ब्याही, एक विधवा ननँद, और एक विधवा मौसी थी। दो-चार दास-दासी भी थे। बड़ी भारी हवेली थी।

कुमुद की सभी ख़ातिर करते थे। सास उसे कमाऊ पुत्र की बहू समझकर आँखों पर रखती थी, कुमुद जब कभी दस-बीस दिन को आती, हाथों-हाथ उसकी ख़ातिर होती। ननँद-जिठानी उससे कुछ प्राप्त करने के लालच में उसकी लल्लो-चप्पो में लगी रहतीं। नौकर-दासी इनाम-कपड़ा पाने के लोभ में उसकी बड़ी सेवा बजाते। कुमुद मन की उदार, हृदय की मधुर और हाथ की खुली थी। वह बड़ी हँसमुख भी थी। हास्य का फ़व्वारा सदैव उसके मुख से झड़ा करता था। उसकी सखी-सहेलियों की भी

कमी न थी। जब-जब वह ससुराल में रहती—बस, एक जमघट उसके कमरे में दिन-भर बना रहता था।

वह वास्तव में सिर्फ़ उदार और मिष्ट-भाषिणी ही न थी। वह सास, ससुर, जिठानी और ननँदों की छोटी-बड़ी सेवाएँ दास-दासी के रहते अपने हाथों से करती। एक वक़्त का भोजन भी स्वयं बनाती। घर की किसी भी स्त्री को काम ही न करने देती। जिठानियों के बच्चों का लाड़-प्यार करते दिन बीतता था। नये-नये वस्त्र पहनाना, खिलाना, देना, न्हलाना-धुलाना उसका धन्धा था। सब से 'जी' कहकर बोलना और हुक्म के साथ उठ खड़ा होना उसका काम था।

जिठानी-देवरानी कुपढ़ देहाती स्त्रियाँ थीं। सास भोली और वृद्धा थी। प्रायः घर गन्दा, अव्यवस्थित और देहाती ढंग पर पड़ा रहता। उसे आदत थी, अँग्रेज़ी ढंग से सजे बँगले में रहने की—बड़ी नफ़ासत और सुघराई के साथ। सो, वह आते-ही घर का संस्कार शुरू कर देती थी। उसने नौकरों के वेतन भी बढ़ा दिये थे। ग़रज़, घर में सभी उससे सन्तुष्ट और प्रसन्न थे, और वह सब के हाथ की पुतली, सब के हृदय की दुलारी, और सब के आँख की नूर थी। वह साध्वी, गुणवती, सौभाग्यवती स्त्री आज कुछ और ही वेश में उस घर में आरही थी। वह 'विधवा' थी, अब उसका सर्वस्व नष्ट होचुका था। क्या संसार में हिन्दुओं के विधवा-तत्व से भी भयानक कोई वस्तु है—जहाँ सब संसार पलट जाता है? वह मलिन वस्त्र पहने, धरती में पड़ी रहती। पास-पड़ोसिन,

सहेलियाँ, ननँद, जिठानी-देवरानी—मानो उसके लिये कोई नहीं। सब आईं, सब ने भिन्न-भिन्न भाँति से सहानुभूति प्रकट की, पर वह बोली नहीं, रोई भी नहीं, कुछ कहा भी नहीं—जड़वत् धरती में पड़ी रही। वह कभी-कभी अपने बच्चे को और जिठानियों के बच्चों को अत्यन्त सतृष्ण नेत्रों से देखा करती, पर उन्हें छूती नहीं, बात भी नहीं करती। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख से परे—मानो वह विदेह-रूप में साँस ले रही थी। जीवन-बन्धन उसका टूट चुका था, वह मानो जीवन्मुक्त थी। धीरे-धीरे शोक पुराना होने लगा। कुमुद कुछ खाने और अति संक्षेप में बातचीत करने लगी। घर की स्त्रियाँ भी धीरे-धीरे उस दुखिया के दारुण दुःख को उपेक्षा से देखने लगीं। करोड़ों ही तो विधवाएँ हिन्दू-घरों में इस दारुण दुःख को लेकर जी रही हैं। फिर इसमें नवीनता क्या है?

दो मास व्यतीत होगये। इसी बीच में कुमुद में तो यह परिवर्तन आगया कि उसका वह हास्य सदा को उड़ गया। दूसरे वह किसी भी सखी-सहेली से बात तक न कर, प्रायः मौन ही रहने लगी। उधर घर की सभी स्त्रियों के मन में उसके प्रति आदर और प्रेम का भाव नष्ट होगया। कुमुद विदुषी थी। वह सब-कुछ समझ गई; और सब-कुछ सहने को तैयार भी होगई। पति की सभी कमाई अपने आभूषण-सहित उसने दान-पुण्य में ख़र्च कर दी। सिर्फ़ उनके बीमे के १० हज़ार रुपये बच्चे के समर्थ होने पर उसकी शिक्षा के लिये बैंक में उठा रक्खे। धीरे-

धीरे रामायण के पढ़ने में उसने मन लगाया, और वह प्रायः उसे चुपचाप पढ़ा करती, और आँसू बहाया करती थी।

उसकी यह एकान्तप्रियता और मौन घर की स्त्रियों को खटकने लगा। शीघ्र-ही उस पर ताने कसे जाने लगे, और वह घर का कुछ-भी धन्धा न करके पुस्तक पढ़ा करती है—इस पर खुल्लमखुल्ला आक्षेप होने लगे।

कुमुद ने सब-कुछ सहने का निश्चय कर लिया था। वह एक बार भोजन करती, और चटाई पर बैठी रामायण-पाठ करते-करते वहीं वह सोती। भोजन ताज़ा है या बासी, रूखा है या सूखा, कम है या यथेष्ट—इसकी विवेचना से उसे कुछ प्रयोजन नहीं। अन्त में एक दिन वह भी हुआ, जो बहुधा होता है। कुमुद को ज्वर आगया था, वह चटाई पर चुपचाप पड़ी थी। जिठानी ने कहा—"बहू, इस तरह पड़े-पड़े तो शरीर मिट्टी हो जायगा; कुछ काम धन्धा किया करो।"

कुमुद बोली नहीं, चुपचाप एकटक देखती रही। जिठानी ने ज़रा उच्च स्वर में कहा—"क्या गूँगी हो, जवाब ही नहीं देती? या हम तुमसे बोलने के योग्य नहीं?"

कुमुद अब भी चुप रही। यह देख, जिठानी क्रोध से थर-थर काँपने लगी। उसने चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया—"अरे! देखो, इस राँड की आँखें, इसका ख़सम कमाकर रख गया है, रानी पड़ी-पड़ी खायेगी। घर का काम-धन्धा तो करेगी नहीं, किसी आदमी से बात भी न करेगी।"

घर-भर में गौंगा मच गया। सभी अपनी-अपनी बकती थीं, पर कुमुद ने एक शब्द भी नहीं कहा। वह चुपचाप चटाई पर पड़ी रही।

वृद्धा ने आकर कहा—"क्या है री, क्यों उसे तङ्ग कर रही हो?"

"उसे अम्माँजी—तुम माथे पर रख लो।"

"वह तुम्हारा क्या खाती है?"

"उसका ख़सम तो बहुत रख गया है न।"

वृद्धा ने उन्हें एक झिड़की दी, और कुमुद के माथे को देखा। उससे कहा—"बहू उठ, खाट पर सो रह; तुझे ज्वर हो रहा है।" कुमुद बोली नहीं, उठी भी नहीं। हाँ, उसकी आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे।

बाइसवाँ परिच्छेद

—::※::—

गर्मी के तो दिन थे ही, सन्ध्या को भोजन करके हरनारायण कोठे पर मज़े से पड़े पान कचर रहे थे। तभी श्रीमती हरदेई ने पहुँचकर कहा—

"बड़े सुख से लेट रहे हो!"

हरनारायण आज ज़रा खुश थे। उन्होंने हँसते-हँसते कहा—

"सुख से लेटना तो कोई पाप नहीं है।"

"तुम्हारे घर में पाप है ही क्या ?"

"बड़ी आफ़त है—तुम्हारी एक-एक बात गर्मा-गर्म होती हैं।"

"पर तुम ऐसे शीतलपरसाद—कि गर्मी छू नहीं जाती।"

हरनारायण ने देखा, यह केवल उपहास ही नहीं है,—कुछ मामला है। हँसी रोककर बोले—"आज फिर कोई सुर्खी लाई हो क्या ?"

अब हरदेई ने एकदम मामला साफ़ करने की ग़रज़ से एक तोड़ा-मरोड़ा काग़ज़ इनके हाथ में देकर कहा—"लो, इसे पढ़कर तो देखो।"

हरनारायण ने उसे हाथ में लेकर हँसते-हँसते कहा—"हम बिना पढ़े ही समझ गये—आपके भाई साहब की चिट्ठी आई दीखती है। कह डालो, कब की तैयारी है ? मुझे तुम्हारी रुख़-सत मन्जूर है,—बस, अब तो खुश हो ?"

हरदेई ने कपाल ठोककर कहा—"हाय कर्म ! इसे पढ़ो तो, या मनमाना मतलब समझकर ही छुट्टी पाई ?"

हरनारायण अभी तक मौज में आ रहे थे। बोले—"तो इस अँधेरे में कैसे पढ़ा जाय ? ज़रा मुँह पास लाओ, शायद उसकी रोशनी में पढ़ सकूँ।"

हरदेई ने झुँझलाकर कहा—"भाड़ में जाय तुम्हारी हँसी ! आठ पहर की भी क्या हँसी ?"

"तो फिर तुम्हीं सुना दो—इसमें क्या लिखा है !"

अब की बार हरदेई को क्रोध चढ़ आया। उसने तड़पकर

कहा—"ज़रा होश में आकर बैठो, सर्वनाश होगया! अपनी पगड़ी की-भी कुछ ख़बर है?"

अब हरनारायण उठकर कहने लगे—"कहती क्या हो? क्या सर्वनाश हुआ?" वे बिना ही उत्तर की प्रतीक्षा के कमरे में आकर पुर्ज़ा पढ़ने लगे।

पुर्ज़े पर पेन्सिल से लिखा था—

प्यारी भगवती!

दो दिन जी ललचाकर तुमने एकदम इधर की सुध ही भुला दी। उस दिन तुम परसों ज़रूर-ज़रूर आने का वादा करके गई थीं, पर वह 'परसों' आज तक न आई—१५ दिन बीत गये हैं। छुनिया रोज़ हारकर लौट आती है। तुम भाई के डर का बहाना करके टाल देती हो। पर यह डर तुम्हारा फ़जूल है। अब तक जैसे चुपचाप काम हुआ है, वैसे ही सदा होगा। मैंने ब्याह की बाबत आर्य-समाज के पंडित से पूछा था, सो उसने कहा कि उसके माँ-बापों को राज़ी करलो, ब्याह हम करा देंगे। सो तुम मौक़ा पाकर उनको टटोलना। पक्का वायदा करो—कब मिलोगी। मुझे एक पल सौ-सौ वर्ष का कटता है। ज़्यादा क्या लिखूँ? आज थोड़ा कुछ भेजता हूँ। छुनिया को जबाब देना। चिट्ठी पढ़कर फाड़ डालना।

तुम्हारा दास,

हरगोविन्द

चिट्ठी पढ़कर हरनारायण के तो होश उड़ गये। वे भौंचक-से

खड़े, स्त्री की ओर ताकते रहे। हरदेई ने कहा—"क्यों? समझे न अब बहन की करतूत?"

उसकी बात मानो अनसुनी करके उन्होंने पूछा—"यह पुर्ज़ा तुम्हें मिला कहाँ?"

"सुखिया कहीं से ले आई थी—वह खेलती फिर रही थी। किरपू उससे छीनने-झगड़ने लगा। सुखिया मचलकर धरती पर पड़ गई। तब मैं किरपू से छीनकर उसे बहलाने लगी। अचानक लिखावट पर नज़र पड़ी। पहले तो समझा, कोई रद्दी काग़ज़ होगा। पर छजिया का नाम लिखा देखकर जो पढ़ा, तो उसमें यह कौतुक भरे पड़े हैं।"

हरनारायण बिना कुछ कहे, भगवती के कमरे की ओर दौड़े। उस समय वे क्रोध से पागल होरहे थे।

तेईसवाँ परिच्छेद

—:o::o:—

भगवती बैठी हुई हरगोविन्द की भेजी हुई मिठाई खारही थी। अभी रसगुल्ले का एक टुकड़ा उठाकर मुँह में दिया ही था, कि इतने में उसके कान में आवाज़ पड़ी—"भग्गो! भग्गो! अरी भग्गो! कहाँ गई?"

भगवती भाई की आवाज़ पहचानकर, एकदम घबरा उठी। उसका ख़ून थम गया। उसने मुँह की मिठाई खाट के नीचे

थूककर और जल्दी-से मुंह पोंछकर कहा—"हाँ भाई! आती हूँ।" इतना कहकर, और जल्दी-से मिठाई को बिस्तरे में छिपाकर बाहर को दौड़ी। बाहर हरनारायण को देखकर कहा—"क्यों भैया! क्या है? तुमने मुझे पुकारा था?"

हरनारायण ने कड़ी नज़र से उसकी ओर देखकर कहा—"तू कर क्या रही थी?"

भगवती ने सिटपिटाकर कहा—"मैं? मैं कुछ नहीं—पढ़ रही थी।"

"हूँ, पढ़ रही थी? अँधेरे में बिना दिये-बत्ती क्या पढ़ रही थी?"

भगवती का ख़ून सूख गया। उसने सम्हलकर कहा—"भैया! मुझे पढ़ते-पढ़ते अभी नींद आगई थी। तुमने क्या मुझे कई आवाज़ें दी थीं?"

इतना कहकर उसने भाई के क्रुद्ध मुख को देखा। उसे देख-कर उसके रहे-सहे होश भी जाते रहे। हरनारायण ने उसे अग्नि-मय दृष्टि से देखकर कहा—"अभागिनी! तू वहाँ क्यों गई थी?"

अब तो भगवती थर-थर काँपने लगी। पर उसने सावधान होकर जवाब दिया—"कहाँ भैया?"

"कम्बख़्त लड़की! तुझे यहीं ज़मीन में गाड़ दूँगा। इस बहानेबाज़ी को छोड़कर जवाब दे। सच बता, तू वहाँ क्यों गई थी? नहीं तो आज तेरी शामत आई रक्खी है।"

भगवती के सारे शरीर में आग-सी लग रही थी। घर के

छप्पर, द्वार घूमते दीखते थे। अब की बार वह कुछ न बोल सकी। हरनारायण और क्रुद्ध होकर बोले—"ज़िन्दी है, कि मर गई? मेरी बात का जवाब दे!"

भगवती ने रोकर कहा—"मैं तो कहीं नहीं गई भैया!"

"तू कहीं भी नहीं गई? सच कहती है? अच्छा, इस चिट्ठी में क्या लिखा है?"

अब तो भगवती का चेहरा पीला पड़ गया। उसका सारा शरीर पसीने से शराबोर होगया। वह चिट्ठी को हाथ में लिये नीची दृष्टि किये खड़ी रही। हरनारायण ने कड़ककर कहा—"बोल—इस चिट्ठी में क्या है?"

"मुझे क्या ख़बर?"

"तुझे कुछ ख़बर नहीं? इसमें क्या लिखा है? पढ़ तो सही!"

भगवती चुपचाप नीचा सिर किये खड़ी रही।

हरनारायण ने उसकी गरदन में झटका देकर कहा—"बोल, तेरी ज़बान टूट तो नहीं गई?"

भगवती ने रोते-रोते कहा—"मुझे क्या ख़बर?"

अब हरनारायण अपना क्रोध न रोक सके। उन्होंने तड़पकर दो थप्पड़ उसके मुँह पर दिये, और दाँत कटकटाकर कहा—"अभागिनी कलंकिन! तेरे ये लच्छन? अच्छा, भीतर तो चल।"

भगवती का शरीर सौ मन का होरहा था। हरनारायण उसका हाथ घसीटकर ले चले। सब से प्रथम उनकी दृष्टि मिठाई

पर पड़ी, बिस्तरे में से दौना चमक रहा था। उसे निकालकर हाथ में लेते ही वे भौंचक-से रह गये। उनके मुख से निकल पड़ा —"सर्वनाश! हत्यारी—तू इसी ग्रन्थ का पाठ कर रही होगी?"

फिर उन्होंने दूसरी चीज़ों को देखना शुरू किया—लेवण्डर, कंघे, शीशी, इत्र, मिठाई और तरह-तरह के सामान। इन सब को देखकर हरनारायण के होश फ़ाख़्ता होगये। उन्होंने दुखी होकर, रुँधे कण्ठ से कहा—"हाय, ! हम क्या अब तक सोरहे थे?"

इतने ही में उसकी दृष्टि पुस्तकों पर पड़ी। उन्होंने देखा— एक पुस्तक का नाम था, 'तोता-मैना का क़िस्सा।' दूसरी उठाई, वह थी, 'हरदेवसहाय का बारहमासा।' तीसरी उठाकर देखा, वह था 'दिल्लगन नावल।' चौथी पुस्तक उठाई, वह थी—'सच्चा आशिक़।' पाँचवीं को देखा, वह थी 'बहारे-बुलबुल।' अब हर-नारायण उन्हें बिना देखे ही फाड़-फाड़कर फेंकने लगे। क्रोध में आकर बोले—"हत्यारी, डायन! तुझे यही किताबें पढ़ने को रही थीं? इसीलिये तूने पढ़ना सीखा था?" इतना कहकर हरनारा-यण रस्सी लेकर उसे मारने को टूट पड़े।

बालिका, पापिनी बालिका, अपराधिनी बालिका, अपना अपराध समझ गई थी। वह किस मुँह से रोती—क्षमा-प्रार्थना करती, हाय-हाय करती—वह केवल छटपटाकर भूमि में लोटने लगी। हरनारायण आपे में नहीं था। वह पशु की तरह उस भूमि पर लोटती हुई को सपासप रस्सी की मार देरहा था। बालिका ने रक्षा के लिये दोनों हाथ उठा दिये। हाथ जोड़कर,

गिडगिड़ाकर दया-प्रार्थना चाही, पर उसके मुँह से एक भी शब्द न निकला। उसकी जीभ तालू से सट गई थी। उसके डबडबाये हुए करुणापूर्ण नेत्र, अध-खुले दाँत, बँधे हुए हाथ निरन्तर भाई से दया की प्रार्थना कर रहे थे। पर भाई का लक्ष्य क्या उधर था? उसके हाथ इस प्रकार चल रहे थे, मानों कोई लकड़हारा कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा हो। बालिका अन्ततः हाड़-मांस की बनी ही थी। दुखिया तो थी, पर कोमलाङ्गी भी थी; परन्तु कोमलाङ्गी होने से क्या हुआ? कठोर लोहा भी स्थिर होकर चोट को नहीं सह सकता है। मार लगते-लगते उसकी चमड़ी उधड़ गई। पीठ पर, छाती पर, गले में, मुँह पर नीले-नीले दाग़ उपड़ आये। बाँहें खून से लतपत होगईं। उसके दोनों हाथ, जो अनुनय की भीख माँगने को ऊपर उठे हुए थे, शिथिल होने लगे, और अन्त में धरती में आ-गिरे। छटपटाना भी कम हुआ। आँखें बन्द होगईं। बालिका मूर्छित होकर निश्चेष्ट पड़ गई। दया के धाम, संसार के स्वामी ने ऐसे ही अवसर के लिये मूर्च्छा की सृष्टि की है। निर्बल, निस्सहाय प्राणी जब किसी तरह वेदना को सहन नहीं कर सकता, तब मूर्च्छा कैसी प्यारी सखी का काम देती है—यह वर्णन् करने की बात नहीं है।

हरनारायण ने देखा, कि लड़की मूर्च्छित होगई। तब उसका हाथ धीमा पड़ा—वह रस्सी एक ओर फेंककर हाँफने और बड़-बड़ाने लगे—हतभाग्य, कुलबोरनी कलङ्किनी! तू जन्मते ही क्यों न मर गई थी!!!

ठीक है युवक महाशय! उसका वश चलेगा तो वह मर जायेगी। पर, मैं यह पूछता हूँ, कि इस पाप-पथ पर पड़ने का सब अपराध उसी का है? इतना कठोर दण्ड! ऐसा अमानुषिक व्यवहार! ऐसी राक्षसी मार जो तुमने उसको दी है—उसका अपराध क्या ऐसा था? उसमें तुम्हारा, तुम्हारे बाप का, तुम्हारे परिवार का, तुम्हारी जाति का और तुम्हारे धर्म का कुछ भी अपराध नहीं है? जिस प्रकार मोरी और नाबदान में घर-भर की सारी गन्दगी डालकर घर को स्वच्छ रखते हैं—हिन्दू-धर्म में इसी प्रकार स्त्रियाँ भी सब के पाप को अपने सिर ओढ़े रहती हैं। इससे उनका परलोक तो नष्ट होता ही है—इस लोक में भी भगवती की तरह दलित होती हैं। अच्छा है—चलो, पुरुष तो निष्कलङ्क और स्वच्छ दूध-धोये रहते हैं। आओ पाठक! हम सब इस पवित्र हिन्दू-धर्म का गुण-गान करें, और इस दया धाम-धर्म को धन्यवाद दे लें।

चौबीसवाँ परिच्छेद

उपरोक्त घटना यद्यपि चुपचाप ही हुई थी, भगवती न तो रोई, न चिल्लाई; न उसके मुँह से कोई शब्द ही निकला। फिर भी उस छोटे-से घर में वह घटना छिपी न रही। जिस समय बालिका भगवती धरती पर मूर्च्छित पड़ी हुई थी, और हरनारायण क्रोध में आग-बबूला होकर अनाप-शनाप बक रहे थे, उसी समय

उसकी माता ने कमरे में प्रवेश किया। कोठरी का रँग-ढँग देखकर उसने भकचकाकर पूछा—"यह क्या हुआ रे?"

हरनारायण कुछ देर तक ज्वालामय नेत्रों से माँ की ओर ताककर बड़बड़ाता रहा। गृहिणी ने देखा, मामला कुछ संगीन है। उसने गम्भीरता से कहा—"अरे बता तो, कह—हुआ क्या?"

हरनारायण ने लड़खड़ाती हुई ज़बान से कहा—"हुआ तेरा सिर! सब जाकर कुएँ में डूब मरो!"

इतने में हरदेई और नारायणी भी वहीं आपहुँचीं। हरदेई ने कहा—"माँजी! क्या पूछती हो, कहने की बात ही नहीं रही!"

गृहिणी ने बहू की ओर फिरकर कहा—"तू ही कुछ बता, बात तो मालूम हो?"

हरदेई ने धीमे स्वर में कहा—"तुम्हारी धी ने ख़ूब जस कमाया है!"

गृहिणी ने झुँझलाकर कहा—"बेहूदा! क्यों ज़बान चलाती है, साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती?"

हरनारायण ने तमककर कहा—"तेरी आँखें तो नहीं फूट गईं। यह देख; अपनी लाड़िली बेटी को ये सामान तैने ही ख़रीदकर दिये थे न?" इतना कहकर उसने एक-एक चीज़ साबुन, लैवेण्डर, कंघी, इत्रदान, मौज़े उठा-उठाकर माता के सामने पटक दिये।

वृद्धा ने पुत्र की ऐसी कड़ी बात कभी नहीं सुनी थी। सुनकर जो उसे क्रोध हुआ था, वह इन चीज़ों को देखकर काफ़ूर होगया। वह आतङ्क से आँखें फाड़-फाड़कर पुत्र के मुख को ताकने लगी।

हरनारायण ने कहा—"अब भी समझी कि नहीं, या और समझाऊँ?"

इतना कहकर उसने पत्र निकालकर अपनी स्त्री के हाथ पर धरके कहा—"इसे भी सुनादो, जिससे इसके कान खुल जायँ।"

हरदेई ने पत्र ज्यों-का-त्यों सुना दिया। गृहिणी का माथा घूमने लगा। वह सिर पकड़कर वहीं बैठ गई। घर में गोल-माल देखकर जयनारायण भी वहाँ आगये थे, और सब कथा सुन रहे थे। परन्तु उन्हें किसी ने देखा नहीं था। सब-कुछ सुनकर ठण्डी साँस लेकर नीचा सिर किये वे घर से बाहर निकल गये।

गृहिणी के हृदय में बड़ी चोट लगी थी। वह कुछ देर तक चुपचाप वज्राहत की भाँति बैठी रही। घर-भर में सन्नाटा छागया। अन्त में वृद्धा अत्यन्त दुःख से छटपटाकर रोने और 'हाय-हाय' करने लगी। हरदेई ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"अब उठो। यह तो जन्म-भर का रोना है—अच्छी तरह आराम से रोना—कर्मों के पाप क्या बिना फले रह सकते है।

गृहिणी ने दाँत पीस और छाती कूटकर कहा—"छिनिया बन्द! तेरे कोढ़ चुए—तेरे मास को कौवे चील खाँय—तेरे कीड़े पड़ें!! मेरी दूध की बच्ची को तैने ज़हर बनाया है। हत्यारी!

मुझे क्या ख़बर थी, इसीलिये तेरे पैर इस घर में पड़े हैं ! हाय हत्यारी, तेरा सर्वनाश होजाय !" इतना कहकर गृहणी विलख-विलखकर रोने लगी।

हरदेई ने कहा—"मैं रोज़ देखती थी,—जब देखो, खुसुर-फुसुर; जब देखो, तभी जाने क्या-क्या मन्सूबे गाँठा करती थी। हमें क्या ख़बर थी कि यह ग़जब ढाया जारहा है !"

इतने में हरनारायण ने माता का हाथ पकड़कर कहा—"चल उठ यहाँ से ! देखें—भगवान् की क्या मरज़ी है।" वृद्धा ने देखा कि पुत्र के मुख पर अब कठोर भाव नहीं है, उसके नेत्रों में आँसू छलछला रहे हैं। वृद्धा उठ खड़ी हुई। सब कमरे से चल दिये।

पाठक, भगवती का क्या हुआ ? उस समय वह सभी के क्रोध और घृणा की पात्री थी। उस घृणित अपराधिनी को कोई क्यों आँख उठाकर देखता ? किसी को क्यों उस पर ममता आती ? वह मरी है या जीती है—इसे जानने की कौन चिन्ता करता ! मार से उसकी चमड़ी उधड़ गई है, मांस निकल आया है, अधमरी होगई है, प्यास से कण्ठ सूख रहा है, प्राण कण्ठ में आरहे हैं; परन्तु यह सब रहे, फिर भी वह किसी की दया और अनुकम्पा की अधिकारिणी नहीं है। वह पापिनी जो है ! पापिनी पर दया, और सहानुभूति दिखानेवाला भी पापी समझा जाता है। चाहे वह उसका माँ, बाप, भाई, बहन ही क्यों न हो। पाठक, मनुष्य-समाज की सभ्यता का ऐसा ही नियम है।

कोई करे भी तो क्या ? इसी से उसकी तरफ़ एक-आँख बिना देखे ही सब चले गये !!!

तब क्या भगवती अकेली मूर्छिता पड़ी है ? नहीं पाठक, एक प्राणी है, जो उसे प्यार करता है। क्यों प्यार करता है, सो हम नहीं जानते। दो बातें हो सकती हैं—या तो वह उसके पाप को नहीं समझता और या उसे उसकी परवाह ही नहीं है। जो हो, वह प्यार करता अवश्य है। तब वह व्यक्ति कौन है? वह है हतभागिनी बालिका की अभागिनी बहन नारायणी।

जब तक यह काण्ड होता रहा, वह चुपचाप पत्थर की तरह खड़ी रही। जब सब चले गये, तब वह धीरे-धीरे धरती पर पड़ी हुई बहन के पास घुटनों के बल जा बैठी।

भगवती बड़ी देर की होश में आगई थी। पर वह कुछ तो भय और लज्जा के मारे चुपचाप पड़ी हुई थी, कुछ तकलीफ़ के कारण उठने की शक्ति भी नहीं थी। नारायणी ने धीरे-धीरे उसकी पीठ पर हाथ फेरते-फेरते कहा—"जीजी !"

भगवती ने सुन लिया, पर न वह बोली, न मुँह ऊपर को उठाया।

नारायणी एक तो रोग और दुःख से छुटकारा पाकर चुकी थी, जिससे उसकी आकृति और वाणी अत्यन्त करुणा-पूर्ण होगई थी—तिस पर इस समय वह अत्यन्त दुःखी हो रही थी। सो उसने अत्यन्त करुणार्द्र स्वर से फिर पुकारा—"जीजी।" पर भगवती फिर वैसी ही रही।

अब नारायणी रोने लगी। सब रो चुके थे, वही बच रही

थी, अब उसकी भी बारी आई। वह चुपचाप बहन के ऊपर झुक-कर रोने लगी, उसके गर्म-गर्म आँसू जब भगवती की पीठ पर गिरे, तो भगवती ने मुँह उठाकर क्षीण स्वर से कहा—"क्यों रोती है नारायणी?"

नारायणी रोती रही।

भगवती ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"अरी, रोती क्यों है?"

नारायणी रोती रही।

भगवती उठकर बैठ गई। उसने नारायणी के आँसू पोंछकर कहा—"रो मत, अब मैं बैठ गई।"

नारायणी और ज़ोर से रोने लगी।

भगवती ने बार-बार आँसू पोंछकर कहा—"चुप होजा नरो! इतना क्यों रोती है, बता तो?"

नारायणी ने हिचकी लेते-लेते कहा—"तुझे भाई ने इतना क्यों मारा था?"

भगवती का कलेजा मुँह को आने लगा था। उसने जल्दी-से बहन को छाती में चिपका लिया। दोनों में कौन अधिक रो रहा था, यह बताना कठिन है। पर उनका तार टूटना ही न था। दोनों एक-दूसरे को धीरज देने के लिए रोना बन्द करना चाहते थे, पर रोए ही जाते थे। अस्तु, अवसान सब का है,—रोने का भी अवसान हुआ। नरो ने बहन की छाती में से सिर निकालकर कहा—"जीजी! चल, खाट पर सो रह।"

भगवती ने बहन को बहलाने के लिए उसकी बात को स्वीकार कर लेना ही उचित समझा; भगवती चलकर सो रही, नारायणी पास बैठकर पङ्खा करने लगी।

भगवती ने कहा—"नरो! आ, तू भी यहीं सोजा।" नारायणी चुपके से बहन पास के जा पड़ी।

अच्छा पाठक! हम आपसे यह पूछते हैं कि नारायणी को कलङ्क लगा या नहीं? पापिनी बहन को प्यार करके उसने पाप किया या नहीं? वह उसके पास सोकर पतिता हुई या नहीं? बताओ, इसका उत्तर क्या है? हमें तो कुछ कहते बनता ही नहीं।

पच्चीसवाँ परिच्छेद
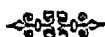
प्रभात होने में देर है। उषा का उदय होगया है। तारों की ज्योति फीकी पड़ गई है। पूर्वाकाश में पीली प्रभा की झलक दिखाई दे रही है। शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार बह रही है। समस्त विश्व सुख की नींद लेरहा है। पाठक चाहते होंगे, कि ऐसे मनोरम काल में हम किसी वाटिका में जाकर अर्द्ध-विकसित कुसुम कलिकाओं की नव्य गन्ध से मन प्रसन्न करें; अथवा भगवती भागीरथी के उपकूल पर जाकर कोसों तक फैली हुई रजत-वर्ण बालुका को निहार-निहारकर प्रफुल्ल हों; अथवा धवल

उच्च अट्टालिका पर खड़े होकर समस्त विश्व के आलोक के अद्भुत और रोचक दृश्य देखें; या जो कुछ अधेड़ भक्त-जन सितार की झनकार के साथ प्रभाती की धुन छेड़ रहे हैं, उसे एक-मन होकर सुनें; और नहीं तो—प्रातःकाल की एक मीठी झपकी ही लेलें। पर ऐ हमारे दयालु पाठको! हमारी विनती स्वीकार करके तनिक उस कोठरी में तो चलो, जहाँ एक बालिका भयङ्कर ज्वर में तपती हुई बेहोश पड़ी है, और दूसरी अत्यन्त बेसबरी के साथ दिन निकलने की प्रतीक्षा में बैठी उसका मुँह निहार-निहारकर और बीच-बीच में उसका शरीर छू-छूकर रो रही है। हम समझते हैं कि बालिका की इस दुरवस्था पर आपको आश्चर्य न होगा। इतनी शारीरिक और मानसिक पीड़ा को सहन करके भी वह यदि स्वस्थ रहती, आश्चर्य इसी बात में था!

धीरे-धीरे और भी कुछ उजाला हुआ। बालिका नारायणी धीरे-से उठकर कोठरी से बाहर हुई। सब पड़े सो रहे थे। नारायणी चुपचाप पैर दबाये माता की कोठरी में घुस गई। देखा, माता बेसुध पड़ी सोरही है। उसने उसका कन्धा हिलाकर कहा—"माँ, माँ ज़रा उठ तो।"

वृद्धा ने आँख खोलकर कहा—"कौन—नारायणी? क्या है?"

"माँ, जीजी को तो चलकर देख—वह कैसी होरही है?"

वृद्धा ने माथा सिकोड़कर कहा—"क्यों, कैसी होरही है? चल, परे हो यहाँ से! मरने दे—ख़बरदार! जो यहाँ आई!!"

इतना कहकर वह मुँह फेरकर पड़ रही। थोड़ी देर तक

नारायणी खड़ी-खड़ी सोचती रही, कि अब क्या करे। एक बार उसने फिर माँ का कन्धा छूकर कहा—"माँ! वह बहुत बीमार होगई है।"

बुढ़िया ने झुँझलाकर कहा—"वह मरे भी किसी तरह! जब वह मर जाय, तब मुझे खबर देने आना।"

बालिका हताश होकर लौट चली। सोच-विचारकर उसने पिता के पास जाना निश्चय किया। वह डरते-डरते पिता के कमरे में घुस गई।

जयनारायण की आंखों में उस दिन नींद नहीं आई थी, उसने कन्या को देखते ही कहा—"कौन—नरो? क्यों बेटा, क्या हुआ?" इतना कहकर वे उठकर पुत्री के पास आ-खड़े हुए।

नारायणी ने काँपते स्वर से कहा—"जीजी बहुत बीमार होगई है, रात-भर बकती रही है। कभी-कभी उठकर भागती थी। मैंने बड़ी मुश्किल से रोका है। सारा बदन आग की तरह तप रहा है।"

जयनारायण ने चुपचाप एक ठण्डी साँस लेकर द्वार की तरफ़ देखा, और चुपचाप भगवती के कमरे की ओर चल दिये। देखा—भगवती ज्वर में बेहोश पड़ी है। तब तक कुछ प्रकाश होगया। उसके वस्त्र को उठाकर जो उन्होंने उसका शरीर देखा, तो उनके सिर में चक्कर आगया। हाय! शरीर-भर में चमड़ी नहीं बची थी। जयनारायण थोड़ी देर तक अपनी अभागिनी पुत्री की दशा देखते रहे—मानो वह कोई भयङ्कर स्वप्न देख रहे थे। उनका

मुख रह-रहकर भयङ्कर होता जाता था। जयनारायण से वहाँ ठहरा न गया। उन्होंने नारायणी से कहा—"बेटी, मैं अभी वैद्य को बुलाता हूँ; तू यहीं बैठ।" इतना कहकर वे बाहर आये। देखा, हरनारायण लोटा लेकर शौच जाने की तैयारी में है।

जयनारायण ने दुःखी स्वर से कहा—"अरे! उसे तूने जान से ही मार डाली होती—ज़िन्दी क्यों छोड़ दी? तुझे उस पर कुछ-भी दया नहीं आई?"

हरनारायण ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह ज्वालामय नेत्रों से पिता को घूरते-घूरते लोटा लेकर बाहर निकल गया।

जयनारायण पुत्री के औषधोपचार में लगे।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

——:※※:——

बिजली के ज्वलन्त प्रकाश में कमरा धक-धक दिप रहा था। उसमें ख़ूब ठाठ से विलायती वस्तुओं की सजावट भी हो रही थी। कमरे के बीचों-बीच एक कोच पर एक सुन्दरी लेटी थी, और एक युवक पास ही एक आधी आरामकुर्सी पर सामने बैठा उसे मना रहा था। सुन्दरी के वस्त्र महीन और सुगन्धि से तर थे। वे अस्त-व्यस्त बिखर रहे थे। वह युवक पर मान कर रही थी। उसकी किसी आज्ञा का पालन युवक नहीं कर पाया था—यही इस मौन-कोप का विषय था। युवक ने कहा—

"नाराज़ न हो, वसन्ती, मैं इसी हफ़्ते में तुम्हारी मनचाही चीज़ ज़रूर बनवा दूँगा। अभी रुपये की ज़रा कमी आपड़ी है।"

स्त्री ने मुँह फुलाकर कहा—"चलो हटो, आजकल झूठों का बाल भी बाँका नहीं होता। पहिले झूठे झट मर जाया करते थे।"

"लो, अब झूठा समझने लगीं!"

"ख़ैर, तुम बड़े सच्चे आदमी सही; परन्तु महरबानी करके हमसे न बोलो।"

"तो यों न रूठा करो।"

"किसे हमारे रूठने की परवा है?"

"क्या तुम नहीं जानतीं, मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ?"

"मैं ख़ूब जानती हूँ, तुम अपने रुपयों को चाहते हो।"

"यह झूठ है।"

"ऐसा न होता, तो क्या २-३ सौ रुपये के लिये इतना कहलाते?"

"प्यारी, इस वक़्त कार-रोज़गार का हाल ऐसा ही हो रहा है।"

"तब तुम कार-रोज़गार के फ़िक्र करो।"

"अब गुस्से को दूर करो, मैं इस हफ़्ते में ज़रूर तुम्हारी चीज़ ला दूँगा।"

मैं गुस्सा करके कर ही क्या सकती हूँ? मेरी क़िस्मत में ही जो नहीं, उसकी क्या-बात है?" इतना कहकर सुन्दरी ने लम्बी साँस खींची।

"तब मैं समझ गया--तुम मुझसे तनिक भी प्रेम नहीं करतीं ।"

"तुम्हारी समझ पर पत्थर पड़े !"

"अब यों जली-कटी सुनाओगी ?"

"दिल जलेगा, तो जली ही बात निकलेगी ।"

"अच्छा, मैं आग पर पानी ढाल देता हूँ ।" इतना कहकर युवक ने प्याला शराब भरकर उसके ओठों से लगा दिया। युवती गटागट पी गई । इसके बाद युवक ने कहा—"ले अब एक मुझे पिला दो, फिर हम लोग रस-रंग में डूब जायँ ।"

युवती ने प्याला भरकर युवक के होठों से लगा दिया । इसके बाद और एक-एक प्याला चढ़ाकर दोनों वाही-तबाही बकने लगे ।

युवक ने कहा—"प्यारी बसन्ती, उस छोकरी का भी फिर कुछ हाल-चाल मिला ?"

"उस दर्जिन की बात कहते हो—वह तो उस दिन जो छिटककर भागी, तो फिर दिखाई न दी । मैं उस दिन गई भी थी, पर उसने तो रुख़ ही न मिलाया ।"

"उसे मिला लिया जाय, तो मज़ा है । कुछ लोभ-लालच दो ।"

"इसका उस पर कुछ असर पड़ेगा ।"

"यही हाल भगवती का भी था, पर अन्त में आगई हाथ में या नहीं ?"

"तब इसी तरह तुम मेरा भी ज़िक्र दूसरी जगह करते होंगे?"

"नहीं, तुम्हें तो मैं दिल से प्यार करता हूँ।"

"और मुझे नहीं देखते? घर-द्वार-इज़्ज़त सभी पर लात मार-कर आ बैठी हूँ! तुम्हारे सिवा किसी को जानती तक नहीं।"

"पर मेरी तितली, उस दर्ज़िन को हथियाओ, तो बात है।"

"यह मुश्किल है।"

"क्यों?

"वह किसी और के हत्थे चढ़ चुकी है।"

"क्या सच?"

"एक गबरू जवान रोज़ ही उसके घर आता है।"

"ईश्वर की क़सम—उसे मैं जान से मार डालूँगा।"

"क्यों तुम उस अभागिनी के लिये किसी को मारोगे? और फिर मैं कहाँ जाऊँगी?"

"तुम्हारे लिये तो जान हाज़िर है।"

"फिर उस पर इतना मन क्यों?"

"बस, दिल की हालत ही ऐसी हो रही है। नई सूरतें दिल को हमेशा भाती हैं।"

"तो अब मैं पुरानी होगई?"

"लो, तुम तो फिर उखड़ी-उखड़ी बातें करने लगीं! लो, एक-एक प्याला और चढ़ा लो।"

और एक-एक प्याला दोनों ने चढ़ाया। इसके बाद क्या बातें हुईं—क्या हुआ—उनमें हमारे लिये कुछ सार नहीं।

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

ग्यारह बज चुके हैं। जयनारायण के घर में किसी की आँखों में नींद नहीं है—सब मुँह लटकाये उदास मन बैठे हैं। जयनारायण धीरे-धीरे लम्बी साँस लेते हैं। उसके साथ ही न-जाने कितने दुःखोद्गार वायु-मण्डल में मिल जाते है। पास ही उनकी स्त्री बैठी आँसू बहा रही है, और बार-बार भगवान् से मौत की प्रार्थना कर रही है। हरनारायण क्रोध से बेचैन होकर टहल रहे हैं। मालूम होता है, उनके सारे शरीर में आग लग रही है। अन्त में जयनारायण ने करुण दृष्टि से पुत्र की ओर देखकर कहा —"अब क्या होगा हरनारायण ?"

हरनारायण ने चञ्चल दृष्टि से पिता को घूरते हुए कहा— "क्या होगा ? जो होना था, सो हुआ है, और जो होना है, वह होगा। इसे भी देखा है—उसे भी देखेंगे।"

जयनारायण मुँह लटकाकर बैठ गये। उन्होंने माथा ठोककर कहा—"हाय ! इसीलिये मैं बूढ़ा हुआ था ? मेरे भाग्य में मरना भी नहीं था—मौत भी माँगने से नहीं आती !"

हरनारायण ने बीच में ही बात काटकर कहा—"मरने से क्या कुल-कलंक धुल जावेगा ?"

"मैं तो न देखूँगा; मेरी आँखें बन्द होने पर जो हो, सो हो।"

जयनारायण की स्त्री ने बात काटकर कहा—"इन बहकी बातों में क्या धरा है ? काम की बातें करो, जिससे मामला बराबर होजाय। जो हुआ, सो हुआ, अब इस बात पर धूल डालना चाहिये। कुल-कान-लाज सब गई—चुल्लू-भर पानी में डूब मरने की बात होगई। भगवान्! यह क्या हुआ !!"

जयनारायण ने झुँझलाकर कहा—"क्यों नाहक भगवान्-भगवान् चिल्ला रही हो ? तुम्हारा ही तो पाप है ! अब भगवान् को पुकारने में क्या है ? जैसा किया, वैसा भोगो।"

"मैंने क्या किया ?"

"भगवती के पुनर्विवाह का नाम सुनते ही तो बिच्छू के डंक की तरह उछल पड़ी थीं !"

"और सुनो ! अधरम की बात कैसे मानी जासकती है ?"

"अब तो तुमने धर्म की रक्षा करली ? अब तो तुम्हारा दूध-धोया धर्म फूल उठा ?"

"हमारी तक़दीर फूट गई—कपाल में जो लिखा था, सामने आया।"

"तो उसे भुगतो—अब यह हाय-हाय क्या है ?"

गृहिणी ने करुण दृष्टि से पति की ओर देखकर कहा—"कुछ उपाय करो।"

"क्या उपाय करूँ ?" यह कहकर जयनारायण ने नर्मी से

स्त्री की ओर देखा। अब गृहिणी ने धीरे-से स्वामी के पास खिसककर उनके कान में मुँह रखकर कहा—"अभी बात फूटी नहीं है। एक काम करो—इसे हरसोने में छोड़ आओ। वहाँ मेरी विधवा बहन रहती है। सब बात ठीक होजायगी।"

"ठीक क्या धूल हो जायगी? वहाँ भी बदनामी फैल जायगी।"

"तो करना क्या है? इस तरह रोने-धोने से तो काम न चलेगा।"

जयनारायण कुछ चिन्तित होकर बोले—"हरनारायण, इधर तो आ।"

हरनारायण उद्विग्न मन से पिता के पास आ बैठे। पिता ने कहा—"गोपाल पाँडे से जाकर सब बात कहनी चाहिये। असल बात तो खोलना नहीं; कहना, किसी के लिये ज़रूरत है।"

हरनारायण ने झुँझलाकर घृणा से कहा—"मैं इस काम के लिये कभी न जाऊँगा। सुनेगा—तो क्या कहेगा? और वह है पूरा-पूरा लालची, एक बात हाथ लगते ही 'हो-हुल्लड़' मचाकर गाँव-भर में बात फैला देगा।"

"दस रुपये पाते ही ठण्डा पड़ जायगा। मैं उसे खूब जानता हूँ, उसने कितने ही ऐसे काम किये हैं।"

हरनारायण चुपचाप पिता का प्रस्ताव सुनने लगा। उसके चेहरे का रँग गिरगट की तरह बदलने लगा। क्रोध, भय, घृणा, ग्लानि और दुःख के भाव उसके मन में उथल-पुथल मचा रहे

थे। कुछ ठहरकर उसने कहा—"इससे तो अच्छा यही है, कि शहर के डॉक्टर-हकीम को कुछ लालच देकर काम निकाल लेना चाहिये।"

"शहर के डॉक्टर-हकीम! बेटा, उनका मुँह तो बड़ा फैला हुआ है। इतना रुपया कहाँ है? (कुछ पास खसककर) ख़बर है ख़ूबचन्द चौधरी की? २००) ले लिये, और लड़की को घर बुलाकर इज़्ज़त-आबरू बिगाड़ी। फिर पुलिस में ख़बर करदी। देखा था? कितना धुक्कम-फ़ज़ीता हुआ था?"

हरनारायण एक-दम हत-बुद्धि हो, बैठ रहे। बड़ी देर तक उनके मुख से शब्द न निकला। उनकी आँखों में अँधेरा छारहा था। जयनारायण बोले—"इससे तो गोपाल पाँडे से ही काम लेना ठीक है।"

"तो तुम्हीं यह काम करो। मेरा तो साहस नहीं होता।"

जयनारायण कुछ देर ठहरकर और ठण्डी साँस लेकर बोले—"अच्छा बेटा, अपनी सुलच्छनी बेटी के लिये यह काम बूढ़ा बाप ही करेगा। तुम सुख से आराम करो।" इतना कहकर हृदय के अगाध दुःख को छिपाने के लिये जयनारायण वहाँ से उठ चले।

उनकी स्त्री अब तक चुपचाप बैठी, बात सुन रही थी। अब उसने भी एक साँस खींचकर कहा—"हा भगवान्! तुमने यह क्या किया?"

जयनारायण उसकी 'आह' सुनकर लौट खड़े हुए, और क्रोध से पागल होकर बोले—"हत्यारी! तू बहुत 'भगवान्-भगवान्'

चिल्लाती है। जो अब की बार तैने भगवान् का नाम लिया, तो तेरा सिर फोड़ दूँगा।" इतना कह, कुछेक क्षण ज्वालामय नेत्रों से स्त्री को देखते रहे, फिर झपटकर बाहर निकल गये। हरनारायण भी नीचा सिर किये घर से बाहर हुए। अकेली गृहिणी टुसक-टुसककर रोती पड़ी रही।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

गोपाल पाँडे का परिचय दिये बिना नहीं चलेगा। इसलिये प्रथम उनका परिचय ही सुनिये। आजकल के कोप के अनुसार इन्हें 'महात्मा', 'हज़रत', 'देवता'—जो-चाहे कह सकते हैं। उम्र इनकी ४४ से ऊँची नहीं है, पर लम्बी दाढ़ी और बड़े-बड़े सिर के बालों से, जो जटा का काम देते है, इनकी शोभा और-ही होगई है। पढ़ने के नाम आप अटक-अटककर कुछ अक्षर उखाड़ लेते थे। आपको दो बातों का बड़ा शौक़ था, एक भङ्ग पीने का, दूसरा साँप पालने का। दिन-भर में दस-पाँच बार की कोई गिनती नहीं। जब कोई भगत आजाता, तभी घोटा चलने लगता है। इसके सिवा आपको और कुछ काम भी नहीं था। बस, दिन-भर घोटा। यों तो चरस का भी एकाध दम लगाने की आपको क़सम नहीं थी, पर शराब के आप एकदम विरोधी थे। उसके गुण-दोष बखानने जब आप बैठते, तो आपकी वक्तृता

सुनने ही योग्य होती थी। पर किसी-किसी का कथन था, कि जब उनका सम्बन्ध छदम्मोजान से था, तो उन्होंने सब-कुछ खाया-पिया था। भोला का तो यहाँ तक कहना है, कि पाँडेजी को अपनी आँखों से हमने बोतल लिए छदम्मो के घर जाते देखा है। और मछली तो उसने स्वयं कई बार उन्हें बेची है। अपनी आयु में उन्होंने तीन बार ब्याह किया, पर न-जाने क्या दैव-कोप था—किसी का सुख इन्हें बदा ही नहीं था। साल-डेढ़ साल से अधिक कोई नहीं जी। मिज़ाज इनका ज़रा सुर्ख़ था। पहली स्त्री ने एक बार शाक में नमक अधिक डाल दिया; बस, चाक़ू गर्म करके उसके नाख़ूनों में घुसेड़ दिया, जिससे फिर ऐसी भूल न हो। पर वह बेचारी अस्पताल में छः मास तक पड़ी रही।

दूसरी स्त्री को न-जाने क्या हुआ कि भयानक ख़ून थूकने लगी, और दो-ही दिन में मर गई। पड़ोसियों का कहना है कि पाँडेजी की राक्षसी मार का ही कारण था। तीसरी, बेचारी के पेट में बच्चा उलट गया, उसी वेदना में परलोक सिधारी। तब से उन्होंने फिर ब्याह नहीं किया। उसके बाद छदम्मोजान से उनकी जान-पहचान हुई। पर एक दिन घर में उसकी लाश पाई गई। इसके ख़ून का मुक़दमा पाँडेजी पर चला भी, पर सबूत न मिला। फिर भी न-जाने किस सन्देह पर छः मास उन्हें 'बड़े-घर' में रहना पड़ा। उसके बाद ही वह महात्मा होगये। अब जीव के नाम इनके घर में साँप ही है—साँप पकड़ने में इनका बड़ा नाम है। अनेकों प्रकार के साँप इनके घर में रक्खे हैं। जब

बाज़ार में महात्माजी निकलते हैं, एक-दो साँप गले में, या कमर में अवश्य सुशोभित रहता है। आँखें आपकी छोटी-छोटी साँप की जैसी ही हैं। शरीर फरहरी, बलिष्ठ और रङ्ग गहरा है। वस्त्रों में साधारण कुरता, धोती, खड़ाऊँ और गले में रुद्राक्ष की माला, माथे पर पर भस्म का बड़ा-सा त्रिपुण्ड रहता है। कभी-कभी सिर पर साफ़ा भी बाँध लेते हैं। आस पास के गाँवों में सभी गोपाल पाँड़े को जानते हैं। उनके इनसे अनेक काम निकलते हैं। सच तो यों है, कि गोपाल पाँड़े न होते, तो इन गांववालों का जीना मुश्किल हो जाता। इनमें अनेक गुण हैं। भूत-प्रेत निकालना, जादू-टोना-मन्त्र-इलाज करना, प्रेम की चुटकी, मारण-मोहन-वशीकरण-उच्चाटन—आदि सब प्रयोग इन्हें सिद्ध हैं। स्त्रियों के तो एक-मात्र सब-कुछ पाँड़ेजी ही हैं, और वे उन्हें मानती भी बहुत हैं। नित-नये अनेकों साध लेकर वे प्रथम पाँड़ेजी की सेवा में पहुँच जाते हैं। फिर भी कुछ लोग इन्हें महा-धूर्त, पाखण्डी, नीच और कुमार्गी कहकर इन्हें गालियाँ दिया करते हैं। कुछ का तो यहाँ तक कथन है, कि इन्होंने उनकी बहू-बेटियों को पथ-भ्रष्ट कर डाला है; जिससे वे कुएँ में गिरकर मर गईं। जो हो, ऐसे ही हमारे गोपाल पाँड़े हैं। अपना मान, सम्मान, इज़्ज़त और कुल-कान बचाने के लिये जयनारायण को इन्हीं की सहायता की ज़रूरत पड़ी है। न-जाने कितने भलेमानसों की पगड़ी ऐसे धूर्तों के अपवित्र चरणों में ठुकराया करती होगी!!

दोपहर ढल चुका है। एक चेला बैठा है। पाँड़ेजी धीरे-धीरे गुनगुनाते हुए पानी में भङ्ग धो रहे हैं। ऐसे ही समय में जयनारायण ने उनकी कुटी में प्रवेश किया। जयनारायण को देखते ही उन्मत्त-जैसे नेत्रों को उनकी ओर घुमाकर पाँड़ेजी ने कहा—"ओ हो, दीवानजी! आओ। अरे गोविन्दा! ज़रा एक चटाई तो उठाले!"

जयनारायण संकुचित भाव से प्रणाम करके आप-ही एक चटाई खींचकर बैठ गये, और बोले—"नाहक़ क्यों तकलीफ़ देते हो? मैं अच्छी तरह बैठ गया हूँ।" पाँड़ेजी ने हँसते-हँसते कहा—"अच्छा! अच्छा! आज किधर रास्ता भूल गये?

जयनारायण ने हृदय का उद्वेग छिपाकर कहा—"कल अमावस्या है न; हरनारायण की माँ ने ज़िद की, कि पाँड़ेजी को नौता दे आओ।"

पाँड़ेजी ठठाकर हँस पड़े, और बोले—"ओहो! इतनी-सी बात! यह या किसी से कहाकर भेज देते, तो मैं आप-ही चला आता।"

"मैं, इधर माधोदास की ओर चला था। सोचा, कि लगे-हाथ इस काम से भी निपट चलूँ। दर्शन ही होंगे।"

पाँड़ेजी फिर हँसकर बोले—"दर्शन तो महन्त-महात्मा के होते हैं बाबा, हम तो आपके दास हैं। जब याद करो, तभी ड्योढ़ी पर आ पहुँचें।"

"आप क्या किसी महन्त से कम हैं?" यह कहकर जय-

नारायण मुस्कराने की चेष्टा करने लगे, पर उनके नेत्रों में घृणा का भाव आगया।

पाँड़ेजी दोनों कानों पर हाथ धरकर बोले—"हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! हम नरक के कीट हैं! साधू-महात्मा कैसे हो सकते हैं?" मन की घृणा को मन ही में दबाकर जयनारायण बोले—"आप चाहे-जो कहें—पर लोग तो ऐसा ही समझते हैं।"

पाँड़ेजी भंग धोकर इकट्ठा करते-करते बोले—"यह तो उनकी भगती है।" इतना कह, ऊँचे स्वर से पुकारा—"अरे गोविन्दा! इधर तो आ। दीवानजी के लिए दूधिया बना ले। झपाके से तैयार कर!"

जयनारायण ने विनय से हाथ जोड़कर कहा—"मुझे तो माफ़ करें। मुझे जाना है।—और आप जानते ही हैं, मैं यह सब पीता-वीता नहीं हूँ।"

पाँड़ेजी ने अत्यन्त आग्रह से कहा—"यह सब न चलेगा। और न हो, आचमन ही कर लेना, पर ठण्डाई पीनी अवश्य पड़ेगी। यह तो देवादिदेव की बूटी है, इसका तिरस्कार क्या?" जयनारायण उठते-उठते बोले—"नहीं-नहीं—इसके लिए मुझे क्षमा समझिये। ज़िद न करें।" कहकर लगे जूता पहनने।

पाँड़ेजी ने कुछ ढीले पड़कर कहा—"तो यह बात तो अच्छी न रही। कब-कब तो आये, और योंही चल दिये,—न ख़ातिर न तवाज़ा!"

जयनारायण ने मुस्कराकर कहा—"सब वहाँ भी आप ही

का है, और यह तो मेरा घर है।" इतना कहकर और जान लेकर वे भागे। उनके जाने पर पाँडेजी एक आँख उनकी ओर घूरते रहे। उनके लाल-लाल मदमाते नेत्र खुशी से फूल उठे थे। इतने में हरिया ने आकर कहा—

'गुरु, आज यह खूसट क्यों आया? कैसा नौता है? आज तक तो साला गलियाँ देता था!"

पाँड़ेजी ने चेले की ओर झुककर कहा—"इसी के घर न दो-दो हथिनी पल रही हैं? अच्छा, कल देखा जायगा। अब मार लिया है!!"

चेले ने धीरे-से कहा—"अब देखेगा गुरू के हतकण्डे! बड़ी लड़की बड़ी चटको है—उसी पर हाथ साफ़ करना चाहिये। (कुछ पास सरककर) सरनीवाले गोविन्दा से उसकी नैन-सैन है।—बस, एक इशारे में डोरी पर चढ़ जायगी।" महात्माजी ने दबी ज़बान से पूछा—"सच! यह कैसे मालूम हुआ? चीज़ तो बढ़िया है, पर उस दिन तो राँड गालियाँ देने लगी थी। तुम्हें क्या गोविन्दा ने कुछ कहा था?"

"वह साला बड़ा घिज्जू है। उसके पेट से बात नहीं फूटती। पर वह छलिया ही उसकी भी ख़बर लाती है।" इतना कहकर उसने मद-भरी दृष्टि से पाँडेजी की ओर देखा।

पाँड़ेजी फूलकर कुप्पा हो गये थे। उन्होंने उमंग से हरिया के हाथ-में-हाथ मारकर कुछ कहना ही चाहा था, कि पीछे से किसी ने कहा—"जय शंकर बाबा की!"

पाँड़ेजी ने देखा—दम्भी भगत खड़े हैं।

अब वे हरिया से चटपट ठण्डाई बनाने को कहकर हँस-हँस-कर भगतजी से बातें करने लगे।

उनतीसवाँ परिच्छेद

आज जयनारायण के घर में पाँड़ेजी का निमन्त्रण है। खाने-पीने का विशेष आयोजन किया गया है। समय पर पाँड़ेजी ने हँसते-हँसते घर में प्रवेश किया। आज वे ख़ूब बन-ठनकर आये थे। रेशमी धोती, हरी फ़लालेन की बगड़ी, सिर पर रेशमी साफ़ा, पैर में खड़ाऊँ और माथे पर भस्म का बड़ा-सा टीका। उन्हें देखते-ही जयनारायण ने बड़े आव-भगत से कहा—"आइये, आइये! मैं आपकी इन्तज़ार ही कर रहा था!"

पाँड़ेजी ने घरौआ जताकर कहा—"कुछ ज़्यादा देर तो नहीं हुई?"

"नहीं-नहीं, आइये, भीतर चलिये; सब तैयार है।"

पाँड़ेजी चारों तरफ़ भेद-दृष्टि से ताकते-ताकते चले। भीतर आँगन में पहुँचते-ही कहा—"आपके लड़के-बच्चे कहाँ हैं? सब राज़ी तो हैं? लड़की तो दोनों यहीं हैं?"

जयनारायण मन का दुःख दबाकर बोले—हाँ, "यहीं हैं। सब आपकी दया है।"

"उन्हें बुलाओ तो—ज़रा गुरु की भभूत तो दे दूँ!" इतना कहकर उन्होंने एक पोटली निकाली।

जयनारायण ने अत्यन्त विनय से कहा—"नारो! भग्गो! यहाँ आओ! देखो, पाँड़ेजी क्या दे रहे हैं।" नारायणी चौके में काम कर रही थी, पिता की आवाज़ सुनते ही आ खड़ी हुई। पाँड़ेजी ने चट-से उसके माथे पर टीका लगा दिया। फिर चारों तरफ़ घूरकर देखा, और कहा—"अरे! दूसरी कहाँ गई? अरी आ जल्दी—ले, गुरु का परसाद लेजा।"

भगवती भीतर चुपचाप उदास बैठी थी। अन्त में वह धीरे-धीरे सकुचते हुए सामने आ खड़ी हुई। उसे देखते ही पाँड़ेजी ने कहा—"अरी बावली! तू अब तक कहाँ थी? ले!" कहकर उसके माथे पर भी टीका लगा दिया, और जयनारायण से कहा—"यह लड़की बड़ी सीधी-सादी है, दीवानजी।"

जयनारायण भगवती को आती देख, मुँह फेरकर खड़े थे। अब उन्होंने बात टालने को कहा—'तो अब भोजन करें; देर हो गई है।" कहकर वे चौके की ओर लपक गये। इससे पाँड़ेजी का कटाक्ष तथा संकेत, जो उन्होंने भगवती से किया, वे न देख सके। भगवती भी घबराकर भीतर चली गई। पाँड़ेजी मुस्कराते हुए रसोई की तरफ़ बैठे। भोजन के उपरान्त अच्छी दक्षिणा पाकर, पाँड़ेजी चलने को ही थे, कि जयनारायण ने कहा—"थोड़ी देर बैठक में चलकर विश्राम कीजिये न?"

पाँड़ेजी बोले—"बस, अब चलने दो; फिर देखा जायगा।"

"मुझे कुछ ज़रूरी बातचीत करनी थी; क्या आपको बहुत जल्दी है ?"

"ऐसा ? अच्छा चलो—ज़रूरी काम है, तब भी तुम्हारे लिए छोड़ सकता हूँ।"

"बात कुछ ऐसी आ पड़ी है, कि आपको तकलीफ़ दिये बिना न चलेगा।" यह कहते-कहते जयनारायण के होठ सूख गये।

"अच्छा, क्या है ? देखता हूँ, आप बुरी तरह घबरा रहे हैं। मेरे लायक़ कोई काम हो, तो बे-खटके कह डालिये। आपके लिये जान तक हाज़िर है, दीवानजी !"

"इसमें क्या शक है ! तभी तो आप पर पूरा भरोसा है !" इतना कहकर जयनारायण ने मन की बात छिपाने को ज़रा दाँत दिखा दिये।

पाँड़ेजी बोले—"तो खड़े-खड़े कब तक बातें करोगे ? चलकर बैठक में बात-चीत करें।"

जयनारायण उन्हें लेकर बैठक में आये।

कुछ देर सन्नाटा रहा। जयनारायण यही सोच रहे थे, कि किस तरह काम की बात चलावें। पाँड़ेजी बोले—"हाँ, तो अब कहिये, क्या मामला है ?"

जयनारायण कुछ झिझकते हुए बोले—"बात पेट में ही रखने की है, पाँड़ेजी !"

अब रंग-ढंग देखकर पाँड़ेजी समझ गये, कोई संगीन मामला है। उन्होंने कहा—"इस पेट में जो बात जाती है, वह

जीते-जी बाहर नहीं निकलती। आप बे-खटके कह डालें।"

"काम होने पर आपकी ख़िदमत भी की जायगी।"

"ख़ैर, तो बात भी कहिये!" यह बात धीरे-से कहने के लिए पंड़ितजी जयनारायण के और पास खसक आये, और उनके मुँह से अपना कान सटा दिया।

जयनारायण कुछ ठहरकर बोले—"आपकी दवा-दारू से बहुतों का भला होता है, आस-पास के गावों तक में यह बात छिपी नहीं है।"

"यह तो गुरु की कृपा है, हम तो अधम कीट हैं।"

"यह तो आपका बड़प्पन है, पर आज मुझे भी आज़माने की ज़रूरत पड़ी है.........."

जयनारायण का रङ्ग-ढंग और बात-चीत सुनकर पंड़ितजी असल मामला भाँप गये। उन्होंने बीच में बात काटकर धीरे-से कहा—"तो तुम्हें धोखा न होगा, दीवानजी! गुरु की कृपा से मेरे पास भी वह-वह लटके हैं, कि बस!" इतना कहकर पंड़ितजी ने जयनारायण की जाँघ पर हाथ रखकर टीप दिया, और आँखें चलाईं।

जयनारायण बोले—"यही आशा थी, तभी तो आपको तकलीफ़ दी गई।"

"तो कहिये, मामला क्या है, काम फ़तह समझो।"

"बात बड़ी बेढंगी हुई है।" इतना कहकर जयनारायण अनुनय और करुणा की दृष्टि से पंड़ितजी की ओर देखने लगे। आगे उन्हें कहने का साहस भी न होता था।

पाँड़ेजी ने कुछ साहस बढ़ाते हुए कहा—"ख़ैर, जो हुई सो हुई, पर उपाय सब बात के हैं। कुछ लड़कियों को हुआ है क्या? हरवंस चौधरी की बात याद है? उसकी लड़की का ऊँचा-नीचा पैर पड़ गया, बड़ी मुश्किल पड़ी; उसकी माँ ने मुझे ख़बर दी, बस, चुटकी बजते-बजते सब ठीक होगया। जो पीछे से पुलिस न आती, तो किसी को इस बात की ख़बर भी न होती। पर उस झमेले में मेरे भी २००) बिगड़े। साले मेरे ही पीछे पड़ गये।"

जयनारायण काँपकर बोले—"नहीं-नहीं, एक और आदमी है; उसको यही मामला है। इसका तो उपाय करना-ही होगा पाँडेजी। आप पर विश्वास है, तभी यह बात कही है।"

पाँड़ेजी बड़े घाघ थे। ज़रा गम्भीर बनकर बोले—"जैसा विश्वास है, वैसा काम भी होगा। पर दीवानजी, नाराज़ न होना, आप बात छिपाते हैं। (कान में) मुझे तो भगवती के पैर भारी मालूम होते है।"

जयनारायण अत्यन्त चंचल हो उठे। उन्होंने रोकर पाँड़ेजी के पैर पकड़ लिये, औरहाथ जोड़कर बोले—"मेरी पगड़ी आपके हाथ मैं है। जैसे हो, इज़्ज़त बचाइये। जन्म-भर अहसान न भूलूँगा।" यह कहकर वे उसके अपवित्र चरणों में चिपट गये।

अब जैसे सिंह अपने छटपटाते शिकार को देखता है, वैसी-ही दृष्टि से उन्हें देखते हुए पाँड़ेजी ने कहा—"इस तरह छट-पटाने से तो काम न चलेगा। जब मैं हूँ, तो डर किस बात का है? पर एक बात है।"

"क्या बात ?" जयनारायण ने कातर दृष्टि से उसे देखकर कहा—"रुपये १००) ख़र्च होंगे आपके। हाँ—मामला साफ़ ही अच्छा होता है।"

"सौ रुपये ?" कहकर जयनारायण ऐसी अनुनय दृष्टि से देखने लगे, कि पत्थर भी पसीज जाता।

पर पँड़िजी ने अन्यत्र देखते हुए कहा—"यह अधिक नहीं है। कभी-कभी झमेले में पड़कर इससे दूना-दूना ख़र्च कर देना पड़ता है। चौधरी का ही मामला देखो न ?"

"वह तो ठीक है, पर मेरी हैसियत को देखकर माँगो।"

"अच्छा, और १०) रुपये कम सही। पर इससे कम तो न होगा।" इतना कहकर पँड़िजी उठने लगे।

जयनारायण ने पैर पकड़कर कहा—"ज़रा ठहरिये तो सही, अच्छा २५) लेलीजिये।"

"नहीं जी।" इतना कह, और अवज्ञा की हँसी हँसते हुए पँड़िजी चलने के लिये अपना दुपट्टा सम्हालने लगे।

जयनारायण उनके पैरों पड़कर गौ की तरह डकराने और विनती करने लगे। पर उस पत्थर के पसीजने का लक्ष्य नहीं दीखा। बड़ी खींच-तान से ४०) में फ़ैसला हुआ। बात यह ठहरी, कि २०) पहले दिये जायँ, और बीस काम होने पर।

अब पँड़िजी जेब से तम्बाकू की डिबिया निकाल, चूना मलते-मलते बोले—"दस तो क़रार के रुपये जब पहुँच जावेंगे, काम शुरू होजायगा।"

इस पर जयनारायण ने गिड़गिड़ाकर कहा—"देखना, किसी को कानों-कान न मालूम हो; वरना मुझे डूब मरने को जगह न रहेगी।"

"नहीं, ऐसा भी हो सकता है? ऐसी-ऐसी कितनी बात पेट में छिपी पड़ी हैं, पर किसी से कहते थोड़े ही हैं?"

जयनारायण काँप उठे! पंडितजी के जाने पर उन्होंने सोचा—कैसे भयङ्कर और नीच आदमी को उन्होंने अपनी इज़्ज़त सौंप दी है। इसे याद करके वे ऐसे घबराये, कि उस रात एक पल को उनकी आँखें न लगीं।

तीसवाँ परिच्छेद
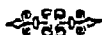
कुमुद स्नान कर, एक स्वच्छ साड़ी पहिनकर अपनी कोठरी में पूजा करने बैठी थी। वह आँख बन्द किये चुपचाप पति-परमेश्वर का ध्यान कररही थी। उसकी मुख-मुद्रा मौन थी। सामने एक चौकी पर राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति थी। उससे तनिक हटकर नीचे की ओर खड़ाऊँ का भी एक जोड़ा धरा था, जो भली भाँति धो-पोंछकर धरा गया था। उन पर ताज़े फूलों का ढेर पड़ा था, सुगन्धित धूप जल रही थी। कुमुद मानस-नेत्रों से पति के दर्शन कर, पुलकित होरही थी। वह अपनी समस्त वेदना और अपमान भूल गई थी। वह मन-ही-मन कह रही थी—हे स्वामी, हे पर-

मेश्वर, हे शरीर और आत्मा के स्वामी ! जब मैंने यह शरीर और आत्मा, आपको प्रदान ही करदी, तब यह आपकी वस्तु यहाँ रही तो क्या, और वहाँ रही तो क्या। आपकी इस प्यार की वस्तु को मैं क्यों नष्ट करूँगी। क्यों, उस स्मृति-मन्दिर को विध्वंस करूँ, जिसमें गत १२ वर्षों से उस देवता की प्रतिमा मैंने स्थापित की है, जिसने मुझे सौभाग्य दिया, सौख्य दिया, जीवन दिया और अन्ततः जगत् का एक अनमोल लाल दिया ?

वह अपने मानसिक भावावेश में विभोर होरही थी। उस समय जीवन और मृत्यु उसकी दृष्टि में कोई घटना ही न थी। वह प्रत्यक्ष अपने प्रिय पति को अपने..अत्यन्त निकट देख रही थी;—इतने निकट, जितना कभी भी पति की जीवित अवस्था में वह नहीं देख सकती थी। वह और उसके पतिदेव अब एक थे, शरीर और आत्मा एक होगई थी। उसने बड़ी देर तक आत्म-विवेचन किया, और फिर आँखें खोल दीं। उसने झुककर उन-खड़ाऊओं को छाती से लगा लिया। वह आँखें बन्द कर, बहुत देर तक उसी स्थिति में बैठी रही। थोड़ी देर में उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। परन्तु यह आँसू प्रेम और आनन्द के थे, शोक और उद्वेग के नहीं

उसने रामायण की पोथी निकाली, और धीरे-धीरे उसने उसका पाठ आरम्भ किया। वह अनुसूया-वर्णित पतिव्रत-धर्म को पढ़ रही थी। उसकी वाणी कोमल, विश्वस्त और स्निग्ध थी। उसे इस बात का तनिक भी गुमान न था, कि अचानक-

कौन उसके पीछे चुपचाप आ-खड़ा हुआ है। जब वह तन्मय होकर रामायण-पाठ कर रही थी, तब किसी ने पीछे से एक सुन्दर फूल-माला उसके गले में डाल दी।

कुमुद ने पीछे फिरकर देखा, मालती थी। मालती उसके पड़ोस की एक वकील की विधवा कन्या थी। कुमुद से उसका कई वर्ष का स्नेह था। जब मालती विधवा थी, और कुमुद सधवा तथा प्रतिष्ठा और अधिकार की देवी थी, तभी से मालती पर उसका बहुत प्रेम था। मालती चपल स्वभाव की स्त्री थी। उसका रूप था, आयु थी, स्वास्थ्य था, धन था, पीहर का निर्विरोध वातावरण था; तिस पर नई शिक्षा। वह वैधव्य-धर्म पर अश्रद्धा करती थी। वैधव्य उस पर अचानक आप होकर पड़ा था। उसे वैधव्य की चाह न थी। उसकी आँखों में सुन्दर जगत् रम रहा था। उसकी प्रत्येक इन्द्रियाँ चैतन्य और भोग की अभिलाषिणी थीं, परन्तु शिक्षा और उच्च परिवार की मर्यादा ने उसे संयमित कर दिया था।

वैधव्य उस पर फबता न था। कुमुद इसीलिये उसे अत्यधिक प्यार करती थी। प्यार को प्यार जानता है! वह कुमुद की प्राणों से प्यारी सखी थी। जब-जब कुमुद यहाँ आती, मालती का अधिकांश समय यहीं ही व्यतीत होता। इसके लिये किसी की रोक-टोक न थी। कुमुद मालती को वैधव्य-जीवन की पवित्रता बताती। वह आत्मा का आत्मा के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध पर व्याख्या देती। वह मृत्यु के हस्ताक्षेप को नगण्य

बयान करती। यह सब सुनकर मालती कभी तो हँस देती, कभी गम्भीर होकर सुनती। परन्तु वह जब कुमुद के पास से लौटकर जाती, तब बहुधा एकान्त में रोती थी। क्यों? इसलिये कि वह उन पवित्र विचारों और उच्च आदर्शों के अनुकूल अपने विचारों को न बना सकती थी। वैधव्य के दुःख से उसका हृदय हाहाकार करता था। वह उस सुखद मनोहर मूर्ति के अभाव को सहन न कर सकती थी, जिसे उसने जी भरके देखा भी न था। उसके चर्म-चक्षु प्रबल थे, वे ज्ञान को भीतर नहीं धँसने देते थे।

परन्तु जब उसने सुना, कि कुमुद पर भी वही वज्र टूट पड़ा—वह विधवा होकर आई है, तो वह कुछ दिन तक तो उसके सन्मुख आने का साहस ही न कर सकी। वह सोचती—कुमुद, मेरी प्यारी सखी अब कैसी होगई होगी! पर जब एक दिन उसने उसके सन्मुख आने का साहस किया, तो देखा—वह समुद्र के समान गम्भीर, कुमुद खड़ी है। उसने मालती को प्रेम से गले लगाया, और कहा—"बहन, अब हम-तुम परस्पर बहुत-ही निकट होगये।"

मालती फूट पड़ी। वह अपना, और अपनी सखी का दुःख कैसे सह सकती थी? उसने कहा—"जीजी, तुम कैसे सहोगी? मैं तो तुम्हारे आसरे सह सकी थी।"

कुमुद ने करुण नेत्रों से मालती को देखा, और कहा—"मालती, अब तू सत्य बात को देख सकेगी। मेरे ज्ञान तो

मेरे स्वामी मेरे अत्यधिक निकट होगये हैं।" कुमुद ने बारम्बार मालती को वैधव्य-तत्व समझाया।

वैधव्य के कारण कुमुद को जो तिरस्कार और लाञ्छना की मार पड़ी, उसने कुमुद के सत को मानों अग्नि पर तपा दिया। कुमुद की आँखों में तपस्विनी के समान तेज उत्पन्न होगया। गम्भीर विवेचना, सहिष्णुता, पवित्रता, धैर्य, यह सब मिलकर कुमुद के चरित्रवान् सौन्दर्य में जब रम गये, तो उसमें एक अद्भुत माधुर्य और तेज आगया।

मालती पर इसका बहुत-ही प्रभाव पड़ा। कुमुद ने मालती का संकोच और खेद—जो उसे कुमुद के दुर्भाग्य पर हुआ था—उसे शीघ्र-ही दूर कर दिया, और कुमुद से मालती वैसी-ही प्रसन्नतापूर्वक मिलने लगी। अलबत्ता उसके मन में कुमुद के प्रति श्रद्धा और आदर अवश्य उत्पन्न हुआ। वह कुमुद की-ही भाँति पूजा-पाठ और रामायण-पाठ में मन लगाने लगी। वह उस अदृष्ट पति का मानसिक चक्षु से दर्शन पाने की भी इच्छा करने लगी—जिसे उसने वास्तव में कभी भलीभाँति देखा भी न था।

आज अभी वह पूजा से उठकर, उसी पूजा स्थान पर एक माला गूँथकर कुमुद को पहिनाने आई थी। माला उसने गूँथी थी—उस अदृष्ट पति-परमेश्वर के लिये, पर वह उस अमूर्त मूर्ति को बहुत चेष्टा करके भी न देख सकी। वह कुछ खिन्न हुई अवश्य, पर बिना देखे वह उस परिश्रम और प्रेम के सम्पुट

से युक्त माला को यों-ही नष्ट न कर सकी। उसने सोचा—इस समय उसके हृदय में जो सब से अधिक निकट है, सब से अधिक प्रिय है, सब से अधिक सुन्दर और स्नेहवती है, वही क्यों न इस कोमल-सुरभित माला को ग्रहण करे?

वह माला को आँचल में छिपाकर वहाँ ले आई, और रामायण-पाठ करती, कुमुद के गले में उसे पीछे-से पहना दिया। इसके बाद उसने अपने मृणाल-से भुज उन स्नेहवती सखी के गले में डाल दिये।

मालती का ऐसा प्यार पाकर कुमुद गद्गद् होगई। उसने खींचकर उसे अपनी गोद में बैठा लिया। वह बड़ी देर तक उसे अगाढ़ प्रेम के आवेश में हृदय से लगाए रही। फिर उसने कहा—"मालती, मेरी प्यारी सखी! मैं तुझे कितना चाहती हूँ! मैं अत्यन्त असहाय और अबला हूँ। तू इतना स्नेह इस नन्हे-से हृदय में लिये फिरती है। तू आनन्द और प्रेम की प्रतिमा है। मेरी प्यारी मालती, मेरी इच्छा होती है, तुझे हृदय में रखलूँ।"

मालती की आँखें भर आईं। आज वह अमूर्त दर्शन करने में अक्षम होकर अस्वाभाविक रीति से गम्भीर होगई थी। उसने कहा—"जीजी! मुझे अपने-जैसा पवित्र बना दो। मेरे हृदय की आग बुझादो। मुझे शान्त करदो। मैं जितना-ही शान्त होना चाहती हूँ, उतनी ही अशान्ति मुझे आ-दबाती है। मेरे चर्म-चक्षु और इस अधम शरीर का रोम-रोम उनका भूखा है। मैं उस अमूर्त के दर्शन तो कर-ही नहीं पाती—जिसे

तुम अब प्रथम से भी अधिक निकट समझती हो। जीजी, जैसे बने, उनका दर्शन मुझे करादो।"

कुमुद कुछ देर चुपचाप इस विकल बालिका की बात सुनकर सोचती रही। उसने सोचा, इस प्रेम और आनन्द की मूर्ति पर वैधव्य शाप होकर गिरा है। यह उसका तेज सहन नहीं कर सकती। वैधव्य का धर्म सहन करने योग्य क्षमता उसमें नहीं है। उसने कुछ न कहा। केवल गले से वह अम्लान पुष्प माला निकालकर मालती की ओर देखने लगी।

मालती ने उसे रोककर कहा—"उसे जीजी, गले ही में पहिने रहो—अभी मत निकालो। मैं हाथ जोड़ती हूँ।"

कुमुद ने कहा—"सुन मालती, देवता के भोग को मनुष्य नहीं ग्रहण कर सकता। यह मनुष्य का अक्षम्य अपराध है।"

मालती इसका अर्थ नहीं समझी। उसने कहा—"देवता का भोग क्या ?"

"यह माला; यह देवता के निमित्त की पवित्र वस्तु है। क्या इसे तूने उन अदृष्ट पति के नाम पर ही नहीं बनाया था, जो तेरी नस-नस में रम रहे हैं, पर जिन्हें तू देख नहीं पाती—जिन्हें देखने को तू कितनी व्याकुल है ??"

मालती ने स्वीकार किया ! उसने कहा—"उस अदृष्ट मूर्ति को किसी भाँति न देखकर मैं यह माला तुम्हारे लिये लाई हूँ, क्योंकि उसके बाद तो फिर तू ही है।"

कुमुद ने माला को आँखों से लगाया, और कहा -

"प्यारी मालती, देव-पूजा के फूल विलास के काम नहीं आसकते। विलास से देव-पूजा प्रथम वस्तु है। विलास वह है, जिससे इन्द्रियाँ अपनी तृष्णा को तृप्त करती हैं। पर देव-पूजा से आत्मा तृप्त होती है; मेरा-तेरा सहयोग-सम्बन्ध-सम्भाषण सब विलास हैं।—क्योंकि उससे इन्द्रियों के विषयों का अत्यन्त सान्निध्य है। देव-पूजा इन्द्रियों की वस्तु नहीं। इस अदृष्ट को तू तभी देख सकती है, जब अपनी दृष्टि को चर्म-चक्षुओं से दूर कर दे। उस वाणी को तू तभी सुन सकती है, जब तेरी श्रवण-शक्ति कान के यन्त्र से अलग हो जाय। वह अन्तर्नाद है; वह तुझ में है। तू बाहर से भीतर को आ, तुझे वह अनायास ही दीखेगा। जल्दी न कर। घबरा नहीं। यह माला ले, और उस अदृष्ट देव को अर्पण कर, जो इसका वास्तविक अधिकारी है।"

मालती कुछ भी नहीं समझी। उसके माला खड़ाऊओं पर एकत्रित फूलों के ढेर पर डाल दी, और फिर फूट-फूटकर कुमुद के गले से लिपटकर रोने लगी। कुमुद भी निरुपाय हो, मालती के दुख को न सहन कर, फूट पड़ी। दोनों स्त्री-हृदय रो रहे थे;—एक अपने लिये, एक दूसरे के लिये।

इकत्तीसवाँ परिच्छेद

राजा साहब ने सुशीला का हाथ पकड़कर कहा—"बेवक़ूफ़ लड़की, अब तू जाल में फँस गई!"

सुशीला ने अपना हाथ झटककर कहा—"आप-जैसे प्रतिष्ठित पुरुषों को ग़रीब लोगों पर इतना ज़ुल्म करते दया नहीं आती? जुआ-चोरी करते और झूठ बोलते शर्म नहीं आती?"

राजा ने निर्लज्जता से हँस दिया। हँसकर कहा—"जुआ-चोरी कैसी?"

"धोखा देकर जो मुझे बुलाया गया।"

"धोखा दिया किसने? तू राज़ी से तो आई है, और अब नख़रे करती है!"

"मुझे मालूम न था, कि वह पापिनी बुढ़िया भी इतनी दुष्ट है!"

"अब उसे क्यों कोसती है?"

"आप मुझे चली जाने दीजिये।"

"यह अच्छी कही!"

"मैं कहती हूँ, कि चली जाने दीजिये।"

"वरना?"

"मैं जान पर खेल जाऊँगी।"

"वाहरी हिम्मत! मगर साहब, हमारी मुराद तो पूरी करदो!"

"जीते-जी यह नहीं होगा।"

"तब तू मुझे ज़ोर-ज़ुल्म पर मजबूर करेगी!"

"भगवान् सहायक हैं।"

"उस दिन तो तू सीधी-साधी मालूम होती थी; आज तो तू बड़े-बड़े पण्डितों के कान काटती है।" इतना कहकर राजा साहब ने फिर उसका हाथ पकड़ लिया। इस बार ज़ोर करने पर भी सुशीला हाथ छुड़ा न सकी। उसने बहुत ज़ोर लगाया। अन्त में उसने ज़ोर से उनके हाथ में काट खाया।

राजा साहब ने झल्लाकर एक लात सुशीला के मारी। लात खाकर वह दूर जा पड़ी। पर राजा भी बाघ की तरह उस पर टूट पड़ा। बड़ी देर तक बेचारी बालिका उस नर-पशु के पंजे से छूटने की चेष्टा करती रही, पर उस पापिष्ठ से उसकी कुछ भी पार न बसाई। इस बार उसने अवसर पाकर ज़ोर से उसकी नाक पर दाँत गाड़ दिये। दर्द से राजा चीख़ उठा। वह छूटने को छट-पटाने लगा। सुशीला उसके छूटते ही दर्वाज़ा नाँघकर बाहर भागी।

बाहर जंगल था। वह असहाया बालिका किससे मार्ग पूछे? जाय कहाँ? पद-पद पर विपत थी। पीछे राजा का भय और आगे अन्धकार का भयङ्कर मुख-गह्वर! मार्ग पूछने में भय था। फिर वहाँ कोई मनुष्य था भी नहीं। वह चुपचाप एक तरफ़ को तेज़ी से चलने लगी। अन्त में चलते-चलते वह एक बड़ी सड़क पर आगई। वहाँ वह एक पत्थर के ढोंके के सहारे पीठ लगाकर यह सोचने लगी, कि अब कहाँ जाय?

घर किधर है, यह मालूम न था। पर जिस घर की निवासिनी वृद्धा ने इतना विश्वासघात किया, अब उस पर कैसे विश्वास किया जाय? यहाँ कैसे अकेला रहा जाय? तब वह जाय कहाँ? हठात् उसे स्मरण आया—वह तो प्रकाश को देखने आई थी। वे बहुत बीमार हैं। पर सचमुच वे बीमार हैं? वृद्धा की चालाकी को देखते तो यह बात झूठ मालूम होती है। पर वे बीमार हों या नहीं, हर हालत में मुझे वहीं चलना चाहिये। वे जैसा कहें, वह करना चाहिये। इसके सिवा निरापद रहने का और कोई उपाय नहीं।

पर कॉलेज-होस्टल है कहाँ? सामने एक कान्स्टेबिल पहरा देरहा था। सुशीला हिम्मत करके उसके पास जाकर बोली—"भाई, क्या तुम बता सकते हो, कि कॉलेज-होस्टल यहाँ से कितनी दूर है, और किस तरफ़ है?"

सिपाही ने उसे ग़ौर से देखा, और होस्टल का पता बता दिया।

सुशीला को अधिक दूर न चलना पड़ा। एक ख़ाली गाड़ी उधर से आरही थी। उसने उसे रोककर कहा—"चलो कॉलेज-होस्टल।"

सुशीला बैठ गई। गाड़ी धड़धड़ाती चल दी, और शीघ्र ही कॉलेज-होस्टल आगया। गाड़ीवाले ने कहा—"ठिकाने पर पहुँच गये।"

सुशीला ने कहा—"तुम उतरकर किसी चपरासीको बुलाओ।"

गाड़ीवाला चपरासी को बुला लाया। सुशीला ने उससे कहा—"प्रकाश बाबू को जानते हो? लॉ-क्लास में पढ़ते हैं।"

"जीहाँ, जानता हूँ।"

"वे हैं?"

"हैं।"

"तबियत कैसी है?"

"अभी पढ़ रहे हैं।"

"ज़रा उन्हें ख़बर करदो—सुशीला बहन आई हैं, वह तुम्हें बुला रही हैं।"

प्रकाश बाबू चपरासी से सुशीला का आगमन सुनकर अवाक् रह गये। इतनी रात गये, एकाएक वह आईं क्यों? वे दौड़कर गाड़ी के निकट आये।

देखा—सुशीला बैठी रो रही है। उसने सारी घटना प्रकाश बाबू को कह सुनाई। प्रकाश की आँखों में ख़ून उतर आया। वे सोचने लगे—अब क्या करना चाहिये। क्षण-भर सोचकर उन्होंने कुछ निश्चय किया, और गाड़ी में बैठकर गाड़ीवान को शहर चलने की आज्ञा दी। गाड़ी फिर धड़धड़ाती हुई तंग और पेचीले बाज़ारों में से चली।

एक मकान के द्वार पर गाड़ी रोककर प्रकाश ने पुकारा—"श्यामा! श्यामनाथ!"

एक मनुष्य-मूर्त्ति ने खिड़की से सिर निकालकर कहा—"कौन है?"

"मैं हूँ प्रकाश, ज़रा नीचे आओ।"

श्यामनाथ तत्काल नीचे आकर बोले—"ख़ैरियत?"

"ख़ैरियत ही है। मेरी बहन आई हैं, इन्हें घर में अभी यहीं रखना होगा। यही कष्ट देने आया हूँ।"

श्यामनाथ ने कहा—"वाह! कष्ट क्या है। यह क्या तुम्हारा घर नहीं है? चलो, भीतर माँ हैं, भाभी तो अभी नैहर गई हैं।" प्रकाश ने कहा—"मैं तो अभी वापस लौट जाऊँगा। होस्टल से यों-ही चला आया हूँ। मैं सुबह मिलूँगा।" इतना कह प्रकाश ने सुशीला की ओर मुड़कर कहा—"सुशीला, ये मेरे परम मित्र श्यामा बाबू हैं। घर में इनकी माता हैं। अभी तुम्हें उनके पास कुछ दिन रहना पड़ेगा। उनके साथ भीतर जाओ।" इतना सुनकर सुशीला गाड़ी से उतरकर चुपचाप भीतर चली गई। प्रकाश गाड़ी में बैठ, होस्टल को लौट गये।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

रात-भर प्रकाश को नींद नहीं आई। एक भयानक विचार रह-रहकर उनके मन को विचलित करता था। वे क्रुद्ध सिंह की भाँति अपने कमरे में द्वार बन्द करके टहलने लगे। वे सोच रहे थे—ये कमीने राजा और रईस यहाँ तक क्यों गिर जाते हैं, कि वे न ग़ैरत की परवाह करते हैं, न इज़्ज़त-आबरू की? पराई

बहिन-बेटियों की इज्जत लूटना मानो उनका साधारण काम है। हम चाहते हैं कि समाज में स्त्रियों को स्वाधीनता मिले। जब तक ये नीच शिकारी रहेंगे—स्वाधीनता मिलेगी कैसे? ये पतित कीड़े और वासना के कुत्ते क्या किसी तरह भयभीत नहीं किये जा सकते? क़ानून एक छल है। मैं क़ानून पढ़कर पढ़ता रहा हूँ। मैं समझता था, इससे ग़रीबों का भला होगा। पर इससे सदा ही चालाकों और धुत्तों का ही भला होता है। क़ानून चुपचाप देखता रहता है, और सभी पाप उसके सामने होते हैं। फिर इन आततायियों से बचने का उपाय क्या है? क्या मर्द का यह कर्तव्य नहीं, कि वह पापियों के दण्ड को अपने हाथ में लेले? क़ानून क्या अपूर्ण नहीं? और क़ानून पर निर्भर रहना क्या कायरता नहीं??

प्रकाशचन्द्र बड़ी देर तक यही सोचते रहे। धीरे-धीरे कोई भयानक संकल्प उनके मन में घर करने लगा। वे उद्वेग में आकर ज़ोर-ज़ोर से पैर पटककर जल्दी-जल्दी टहलने लगे। उन्होंने सोचा—इतिहास के उदाहरण कैसे हैं? स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिये ख़ून की नदियाँ बह जाया करती थीं। आज हम ऐसे कायर और पोच हो गये, कि हम या तो चुपचाप लोहू के घूँट की तरह उस अपमान को पी जाते हैं, या पुलिस और क़ानून की मदद से उसकी मरम्मत करते हैं, जो प्रायः ही झूठों और चालबाज़ों की सहायता किया करता है। मैं निश्चय ही क़ानून को अपने हाथ लूँगा। लम्पट और कामुक पुरुष जगत् के

सब से बड़े भारी अपराधी हैं। वे समाज में कदापि न रहने चाहियें। मैं उस पतित नर-पशु को अपने हाथों से दण्ड दूँगा, जो इतना दुस्साहस कर सकता है कि किसी की बहू-बेटी को ज़बर्दस्ती अपनी वासना की पूर्ति के लिये क़ब्ज़े में कर ले।"

रात बीत गई। प्रातःकाल होते ही प्रकाश ने स्नान करके भगवान् का असाधारण रीति से स्मरण किया, और अपने संकल्प की पूर्ति का दृढ़ निश्चय करके वह होस्टल से बाहर निकला।

श्यामा के घर पहुँचकर देखा—सुशीला वृद्धा माता के पास बैठी कुछ बातचीत कर रही है। वे श्यामा बाबू को लेकर नीचे बैठक में आये।

श्यामा बाबू प्रकाश के बाल-सहचर, और सहपाठी थे। उनसे उनकी कोई बात छिपी न थी। परन्तु सुशीला का भेद उन्होंने होठ से बाहर नहीं किया था। श्यामा बाबू भी इस भेद से अवगत न थे। बैठक में आकर उन्होंने संक्षेप से सुशीला की सभी बातें श्यामा को समझा दीं। अन्त का इरादा ही उन्होंने छिपा लिया, और कहा—"अब कहो—क्या तुम इसे तब तक अपने यहाँ आश्रय दोगे, जब तक हमारे घर जाने का उसका प्रबन्ध न हो जाय?"

श्यामा बाबू ने सहमति जताते हुये कहा—"इस में आपत्ति क्या है? परन्तु यह सोच लो, कि क्या यह ठीक होगा?"

"बे-ठीक क्या है?"

"तुम्हारा मन चाहे-जितना शुद्ध हो, परन्तु सब का मन तो वैसा नहीं हो सकता।"

"क्या तुम इसकी इतनी परवाह करते हो?"

"अब तुम मुझसे बिगड़ने लगे!"

"मैं सिर्फ़ यह पूछता हूँ, कि क्या तुम कुछ दिन इसे आश्रय दोगे?"

"यह बात क्यों पूछते हो? क्या तुम मुझे अपने-से भिन्न समझते हो?"

"नहीं, परन्तु यदि कोई झगड़ा-झंझट या बदनामी सिर पड़े?"

श्यामा बाबू हँस पड़े। उन्होंने कहा—"वह भी सहूँगा। और बोलो?"

"बस, और कुछ नहीं।" प्रकाश उठ खड़े हुये; मित्र के साथ हँसे भी नहीं। उनकी आँखों और होठों में एक कठोर छाया व्याप्त होरही थी। श्यामा बाबू ने इस पर लक्ष्य किया, और प्रकाश का हाथ पकड़कर कहा—"मुझे तुम्हारे रँग-ढँग अच्छे नहीं मालूम होते। तुम्हारा इरादा क्या है?"

प्रकाश ने संयत भाषा में कहा—"मेरा इरादा बहुत पवित्र है, और वह तुम्हें शीघ्र ही प्रतीत हो जायगा।"

"अभी क्यों नहीं बता देते?"

"इसके कारण हैं।"

श्यामा ने गहराई तक जाने की चेष्टा ही नहीं की। वे हँस-

कर चुप होगये। प्रकाश चलने लगे, तब श्यामा ने कहा—"क्या सुशीला से मिलोगे नहीं?"

"नहीं, इस समय नहीं।"

वे चल दिये। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ रहे थे, उनकी चाल में तेज़ी आरही थी। वे शहर की गलियों को पार करके सड़क पर आये, और सड़क को पार करके आये शहर के बाहर। शीघ्र ही वे राजा साहब की आलीशान कोठी पर आपहुंचे। वहाँ आकर वे क्षण-भर ठहर गये। फिर उन्होंने पहरेदार से कहा—"क्या राजा साहब भीतर हैं?"

"हमारा कार्ड उन्हें दो, और सलाम बोलो।"

पहरेदार कार्ड लेकर भीतर गया, और शीघ्र ही बुलाकर भीतर लेगया।

राजा साहब अकेले बैठे, चाय पी रहे थे, और अख़बार हाथ में था। युवक को देखकर कहा—"आपका क्या काम है?"

"मुझे आपसे कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं।"

"कहिये।"

"मैं उस लड़की के विषय में बात किया चाहता हूँ, जिसे आपने धोखे से कल रात उठवा मँगवाया था।"

राजा साहब के हाथ से चाय का प्याला और अख़बार दोनों छूट गये। वे अकचकाकर युवक की ओर देखने लगे। उन्होंने कहा—"आप का मतलब क्या है?"

"यही, कि आपने एक ग़रीब बेगुनाह असहाय लड़की के के साथ ऐसा क्यों किया ?"

"आप इस बात के पूछनेवाले कौन हैं ?"

"मैं एक साधारण आदमी के नाते आपसे पूछता हूँ।"

"साधारण आदमियों से मैं बात नहीं करता। आप अभी बाहर चले जाइये !"

"मैं जब तक अपना काम न कर लूँगा, बाहर न जाऊँगा।"

"वह काम क्या है ?"

"या तो आप साबित कीजिये, कि आप बे-क़सूर हैं, वरना मैं आपको सज़ा दूँगा।"

"मुझे सज़ा दोगे, तुम—बदमाश......!"

"मैं तुम्हारी गाली को क्षमा करता हूँ।"

"पाजी, तुम बाहर निकल जाओ ! वरना अभी नौकर बुलाता हूँ।" इतना कहकर राजा साहब ने घण्टी पर हाथ धरा ही था, कि युवक ने उठकर घण्टी उनके हाथ से छीन ली, और कहा—"यह गाली भी मैंने माफ़ की, पर अब गाली न देना !"

राजा थोड़ा भयभीत होकर युवक को देखने लगा। उसने कहा—"पराई पञ्चायत में पड़ने से तुम्हें फ़ायदा ?"

"मैं फ़ायदे-नुक़सान के लिए कोई काम नहीं करता। तुम झटपट जवाब दो !"

"तुम्हें पूछने का कोई हक़ नहीं।"

"तुम्हारे लिये बेहतर है, कि तुम मेरी बात का ठीक-ठीक जवाब दो !"

"वह लड़की फ़ाहशा है। लालच में आकर स्वयं आती है।"

"इसका सबूत ?"

"तुम क्या कोई मैजिस्ट्रेट हो, कि सबूत तुम्हारे सामने पेश किया जाय ?"

"परन्तु मैंने कहा न, या तो बेगुनाही साबित करो, या दण्ड भोगने को तैयार हो।"

"मैं सफ़ाई नहीं दूँगा।"

"तब दण्ड भोगो।"

"क्या दण्ड दोगे ?"

"मैं अभी तुम्हें मार डालूँगा।" इतना कहकर युवक ने चमचमाता छुरा हाथ में लेकर, मज़बूती से कलाई में पकड़ लिया।

राजा साहब काँप उठे। वे कमरे से बाहर भागे, पर युवक ने एक लात मारकर गिरा दिया, और छाती पर सवार होकर कहा—"अब भी सत्य है !"

राजा चिल्लाने लगा। युवक ने मुँह पर हाथ धरकर कहा—"क्या वह लालच से स्वयं आई थी ?"

राजा ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं। मुझे छोड़ दो ! छोड़ दो !"

"अरे पापी ! पाप किया, और झूठ बोलकर कलङ्क लगाया।

तेरे लिये क्षमा नहीं है।" उसने बलपूर्वक छुरा राजा की छाती में घुसेड़ दिया। एक हल्की चीत्कार कर, राजा ठण्डा पड़ गया। फेफड़े को आर-पार चीरता हुआ वह छुरा बाहर निकल आया था।

छुरे को वहीं छोड़कर युवक कुर्सी पर आ बैठा। मेज़ पर पड़े वस्त्र से उसने अपने हाथ का रक्त पोंछ लिया। अब भी रक्त की वेगवती धारा राजा के शरीर से बह रही थी, और उसका शरीर हिल रहा था। उधर ध्यान न देकर युवक ने घण्टी बजा दी। नौकर ने प्रवेश करके जो देखा—उसके होश उड़ गये। वह थर-थर काँपने लगा। युवक ने सहज-शान्त स्वर में कहा—"डरो मत, हमने उसे मार डाला है! वह पापी था। पराई बहू-बेटियों की इज़्ज़त बिगाड़ता था। तुम जाओ, और पुलीस में इत्तला दे दो।"

नौकर भागा—क्षण-भर में भगदड़ मच गई। पुलीस दल-बल सहित आगई। एक मोटे-से इन्स्पेक्टर साहब पिस्तौल ताने कमरे में घुस आये। उन्होंने वहीं से चिल्लाकर कहा—"ख़ूनी, ख़बरदार! भागने की चेष्टा न करना, वरना गोली मार दूँगा! आओ, चुपचाप हिरासत में आजाओ!"

युवक ने बैठे-ही बैठे आवाज़ दी—"इन्स्पेक्टर साहब, मैं यहाँ हूँ। इधर आजाइये!"

इन्स्पेक्टर ने देखा—युवक निर्भय कुर्सी पर बैठा है। उसके हाथ में कोई हथियार नहीं है। वे डरते-डरते उसके पास तक

पहुँचे ।—और भी दो कॉन्सटेबिल घुस आये और युवक को देख-कर खड़े होगये ।

यह देखकर युवक मुस्करा दिया । इन्स्पेक्टर ने भौं चढ़ाकर कहा—"क्या ख़ून तुमने किया ?"

"जी हाँ ।"

"क्यों ?"

"सज़ा देने के लिये ।"

"किस बात की सज़ा ?"

"यह पराई बहन-बेटियों का धर्म बिगाड़ता था ।"

"तुम्हें मुनासिब था, क़ानूनी कार्यवाही करते ?"

"क़ानून सम्पूर्ण नहीं है ।"

"फिर भी तुम्हें अधिकार न था ।"

"ख़ैर, आप अपनी ज़ाब्ते की कार्यवाही कीजिये ।"

"मैं तुम्हें गिरफ़्तार करता हूँ ।"

"कीजिये न, मैं बड़ी देर से आपकी इन्तज़ारी में बैठा था ।"

तुरन्त युवक को हथकड़ियाँ लगादी गईं । इसके बाद लाश की खोज-जाँच होने लगी । फिर युवक को घेरकर पुलीस थाने में जा पहुँची । लाला साहब के ख़ून की ख़बर आग की तरह शहर में फैल गई, और शहर-भर में एक आतङ्क छा गया ।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

—:¤:—

कुमुद का जेठ रँडुआ था। उसकी स्त्री का देहान्त हुए, दो वर्ष होगये थे। यह व्यक्ति साधारण लिखा-पढ़ा था, और एक कपड़ेवाले की दूकान पर मुनीमगिरी करता था। इस बार कुमुद के घर में आते-ही इसकी कुदृष्टि उस पर पड़ी। जब-जब कुमुद पर अत्याचार होता—वह उसका पक्ष लेकर सब से लड़ता। पर उसे कुमुद से मिलने, बात करने और अपनी अभिसन्धि प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता था। एक दिन का ज़िक्र है। उस दिन कोई पर्व था। कुमुद को छोड़कर सभी पर्व नहाने गये थे। घर में कोई स्त्री न थी। तब वह साहस करके भीतर घुस आया। उसे देखकर कुमुद सहम गई, पर बोली नहीं। उसने कहा—"बहू, तेरे ऊपर बड़ा ज़ुल्म होता है, यह तो मुझसे सहा जाता नहीं।"

कुमुद जेठ से बोलती न थी—वह चुपचाप खड़ी रही। उसने फिर कहा—"इस तरह कब तक चलेगा? तू कब तक यह सब-कुछ सहेगी!"

कुमुद को बोलना पड़ा।

उसने कहा—"जब ईश्वर ने यह दिन दिया है, तो सभी-कुछ सहना पड़ेगा।"

"मैं तुम से एक बात कहना चाहता हूँ।"

"कहिये ?"

"चल कहीं भाग चलें, मैं तुझे जान से ज़्यादा करके रखूँगा; अभी सारी उम्र पड़ी है, इस तरह थोड़े-ही कट जायगी ?"

कुमुद के सारे शरीर से पसीना बह निकला। उसने कम्पित स्वर-से कहा—"कृपा कर आप यहाँ से अभी चले जाइये, ऐसी बात कभी ज़बान पर न लाना !"

"क्यों, ऐसा क्या होता नहीं ?"

"आप चले जाइये !"

"क्या भाई साहब तुझ से ज़्यादा सुन्दर थे ?"

"मैं कहती हूँ, आप यहाँ से चले जायँ।"

"बेवक़ूफ़ औरत, यह मेरा घर है। मैं कहाँ चला जाऊँ ? तू बता, कि मेरी बात मानती है, या नहीं ?"

"मैं आपकी बात पर धिक्कार भेजती हूँ।"

"अब तू इस घर में न रह सकेगी।"

"ईश्वर के राज्य में मेरे लिये बहुत ठौर है।"

"मैं तुझे बदनाम कर दूँगा।"

"हाय ! ग़रीब अनाथ स्त्री को सताकर आप क्या लेलेंगे ?"

"पर तुझे राज़ी से या ज़ोर से मेरी बात माननी पड़ेगी।"

"प्राण रहते यह नहीं होगा !"

"और जो मैं ज़बर्दस्ती करूँ ?"

"आप पूज्य हैं, बड़े हैं, आपको क्या ऐसी बातें शोभा देती हैं?"

"मैं तेरा उपदेश सुनना नहीं चाहता।"

"आप चले जाइये! मैं भी आपकी बात नहीं सुनना चाहती।"

"तुझे मेरे हाथ से कोई नहीं बचा सकता।"

"परमेश्वर सभी को बचाता है।"

"देखें, परमेश्वर कैसे बचाता है?" इतना कहकर वह दुष्ट उस पर टूट पड़ा। बच्चा रो पड़ा, उसे छीनकर उसने अलग ढकेल दिया।

कुमुद ने अपना पूरा बल लगाकर दुष्ट को गिरा दिया, और बाहर आँगन में आकर 'दौड़ो-दौड़ो' चिल्लाने लगी।

इतने-ही में घर की स्त्रियाँ आगईं। यह माजरा देखकर वृद्धा बोली -"यह क्या बात हुई?"

जेठ ने कहा—"एक लफ्ड़ा घर में घुस रहा था, मैंने उसे पकड़ लिया, तो इस पापिनी ने उसे भगा दिया, और मेरे हाथ में काट खाया।"

सभी अवाक् रह गये।

जिठानी और ननँद ने भौं चढ़ाकर कहा—"इसके ये लक्षण तो अब तक मालूम ही न थे।"

बड़ी ननँद बोली—"बैठी-बैठी बच्चा खिलाती रहती थी।"

"यार को चिट्ठी लिखती होगी।"

वृन्दा ने कुमुद के पास पहुँचकर कहा—"अभागिनी, अभी उसकी चिता भी ठण्डी नहीं हुई, और तूने यह यश कमा लिया।"

कुमुद को तो बोलने का अवसर-ही नहीं मिला। वह चुप-चाप बैठी रोती रही।

धीरे-धीरे घर के सभी स्त्री-पुरुषों को यह बात विदित हो-गई। 'वह कौन था? वह कौन था?' सब के मुँह पर एक-ही बात थी। मगर वह दुष्ट यह कहकर चुप होगया,—"मैं उससे समझ लूँगा, पर बताऊँगा नहीं। अपने-ही ख़ानदान की बद-नामी होती है।"

स्वसुर ने जब सुना, तो आगबबूला होगया। गालियाँ दीं, और मारने का भी उपक्रम किया। गहना-पाता और रकम जो पास था, छीन लिया, और कह दिया—"इसका यहाँ एक मिनट रहना नहीं होगा। यह जहाँ चाहे, चली जाय।"

अन्त में यह निश्चय हुआ, कि उसके भाई को तार दे दिया जाय, कि वह इसे आकर ले जाय।

तार दे दिया गया, और वह दिन गाली-गुफ़्ता में कटा। कुमुद ने न कुछ खाया, न एक बूँद पानी पिया। वह बच्चे को छाती से लगाये पड़ी रही।

शाम हुई कुमुद ने सोचा—अब क्या करूँ? इस पृथ्वी पर मेरा सहायक कौन है? उसे यह ख़बर न थी, कि उसके भाई को तार दिया गया है। उसने भाई के पास जाने का निश्चय

किया, पर जाय कैसे ? पास पैसा नहीं, और वह कभी अकेली आई भी न थी, फिर जब घर में इतने शत्रु हैं, तो बाहर का बहाना क्या है ? पर इस वातावरण में एक क्षण भी ठहरना उनके लिये असह्य था।

मालती ने जब यह सुना, तो दौड़ी-दौड़ी आई, और दोनों लिपटकर ख़ूब रोईं। कुमुद ने निकल जाने का इरादा प्रकट किया। मालती ने कहा—"जीजी, मेरे घर चल रहो। रूखी-सूखी जो हो, खा रहेंगे।" मैंने माँ से पूछ लिया है।

कुमुद ने कहा—"नहीं मालती, यह समय ऐसा नहीं है, अब तो मुझे मुँह छिपाना-ही सार है। तेरे घर जाने में और भी बदनामी है। मेरे साथ तू भी बदनाम होगी, पर मेरा एक उप-कार कर। एक टिकिट का प्रबन्ध करके मुझे गाड़ी में बिठलवादे, मैं भाई के पास चली जाऊँगी।"

मालती ने वचन दिया। वह चली गई। उसी रात को जब सब घर सो रहा था—कुमुद उठी। चुपचाप बच्चे को छाती से लगाया, और घर से बाहर चल दी। मालती के भाई ने टिकिट लेकर उसे गाड़ी में चढ़ा दिया।

प्रभात हुआ। कुमुद नदारद। घर-भर में ढूँढ़-खोज मच गई। चारों तरफ़ को आदमी दौड़े। 'हाय-हाय ! नाक कट गई ! इज़्ज़त बिगड़ गई !' के वाक्य कानों के पर्दे फाड़ रहे थे। दोपहर दौड़-धूप हुई। इसके बाद सब शान्त हो बैठे। सब ने यही तात्पर्य निकाला, कि कुल-कलङ्किनी यार के साथ भाग गई। उसके

भाई के पास तार दे दिया गया—"तुम्हारी बहन किसी के साथ भाग गई। अब आना व्यर्थ है।"

चौंतीसवाँ परिच्छेद

जिस समय भूखी-प्यासी थकित कुमुद भाई के द्वार पर पहुँची, उस समय रात होचुकी थी। उनके पास दूसरा तार भी पहुँच चुका था, और भाई-भावज कुमुद को विविध रीति से कोस रहे थे। कुमुद ने धीरे-से द्वार खटखटाया, और आवाज़ दी। स्वर पहचानकर कहा—"कुमुद तो आगई दीखती है?"

भौजाई ने घृणा से मुँह सिकोड़ लिया। रक्त के आवेश में भाई ने नीचे दौड़कर द्वार खोल दिया। देखा—वह कुमुद, डिप्टी साहब की स्त्री, जिसके घर आने पर गाँव-भर में धूम मच जाती थी, एक मैली साड़ी पहने, गोद में बच्चे को लिये, नंगे पैर द्वार पर भिखारिन के वेश में खड़ी है। भाई ने उसे चुपचाप घर में ले लिया। कोई कुछ बोला नहीं। किसी ने कुछ पूछा भी नहीं। कुमुद ने देखा, यह क्या बात है, सारा संसार ही विमुख होगया? उसने कहा—"भाई, मैं बड़ी विपत्ति में पड़कर यहाँ आई हूँ।"

भाई कुछ भी बोले नहीं, वे उठकर बाहर चले गये।

अन्त में भावज का मुँह खुला। उसने कहा—"साखा रच आई बीबीजी?"

कुमुद का हृदय हिल गया। पर वह बोली नहीं। बच्चे को धरती पर बैठाकर वह स्वयं भी बैठ गई। बच्चे ने कहा—"अम्मा, पानी !"

कुमुद ने इधर-उधर देखा। वह स्वयं उठकर घड़े के पास गई। यह देख भावज ने गर्जकर कहा—"यह क्या किया, घड़ा छू लिया। तुम्हें कुछ अच्छे-बुरे का ख़याल भी है ?"

उसने उठकर घड़ा फोड़ डाला। पानी सारे घर में फैल गया।

कुमुद ने देखा—यहाँ तो एक क्षण भी कटने का ढँग नहीं है। उसने कहा—"भाभी, मुझे माफ़ करना। दुःख ने मेरी मति हर ली है। मुझे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहा। तुम मुझ दुखिया को क्षमा करना। सिर्फ़ रात-भर काटकर सुबह मैं चली जाऊँगी।"

कुमुद ने वहीं धरती पर अपनी साड़ी का पल्ला बिछाकर बच्चे को सुला दिया, और स्वयं भी ज़मीन पर ही सोगई।

प्रातःकाल हुआ। भाई ने देखा—कुमुद सूखकर काँटा हो गई है। उसके फूले हुए गाल पिचक गये हैं, रँग पीला होरहा है, आँखें गढ़ों में घुस गई हैं। भाई के हृदय में दर्द हुआ। उसने कहा—"कुमुद, यह इतने ही दिन में तुम्हारी यह दशा होगई ?"

कुमुद बोली नहीं। एक बूँद आँसू उसकी आँख में आकर टपक गये। उसने कहा—"भाई, मैं जो अपने दुःख में तुम्हें कष्ट देने आई, इसके लिये माफ़ करना। पृथ्वी पर मेरा तुमसे बढ़कर कोई सगा न था। तुम इतना कष्ट करो, कि मुझे काशी पहुँचा

आओ। खर्च-पानी का सब प्रबन्ध मैं कर लूँगी। तुम्हें कुछ भी न करना होगा।"

भाई की आत्मा द्रवित हुई। उसने कहा—"कुमुद, इस तरह पराई की तरह बातें क्यों करती हो? चाहे भी जो हो, तुम हमारी बहन हो। हम लोग एक माँ के पेट से जन्मे हैं। क्या एक मुट्ठी अन्न तुम्हें यहाँ नहीं मिलेगा?"

कुमुद के होठों पर बात आई, पर वह पी गई। उसने कहा—"नहीं भाई; मुझे उचित नहीं, कि किसी पर भी अपने दुर्भाग्य की छाया डालूँ। तुम कृपाकर मेरी इच्छा पूर्ण करदो।"

अभी तक भाई के मन में तार की दुर्भावना थी, पर वह कह सकता न था। उसे बहन पर क्रोध था, पर उसकी आकृति देखकर उससे कुछ कहा न गया। फिर भी वह बोला—"कुमुद, जो-कुछ सुना है, वह क्या सच है?"

"तुमने क्या सुना है?"

भाई ने दोनों तारों का परिचय दिया। कुमुद ने सुनकर कहा—"तुम मेरे भाई हो, इस असहाय अवस्था में मेरे रक्षक हो। तुम्हें उचित है, कि इस सचाई की जाँच करो, और अपनी बहन का झूठे कलंक से उद्धार करो।"

"तब यह सब दुष्टों का उड़ाया हुआ है?"

"यह तुम खोज कर निश्चय करो।"

"मैं तो तुम्हें देखते-ही समझ गया था। पर कुमुद, अब तुम यहीं रहो।"

"नहीं भाई; इनका हठ न करो, तुम मुझे काशी पहुँचा आओ ।"

भाई ने बहुत कहा, पर उसने एक न सुनी। विवश भाई को राज़ी होना पड़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है, खा-पीकर रात की गाड़ी से चल देंगे।"

"रात की नहीं, जो गाड़ी सर्व-प्रथम जाती हो, उसी से चलना होगा।"

"भला बिना खाये-पिये......।"

"मैं अन्न-जल तो काशी पहुँचकर ही करूँगी।"

इतनी देर में भाई को ख़याल आया—इससे रात भी किसी ने भोजन के लिये नहीं पूछा। सम्भवतः यह मार्ग-भर भी भूखी ही रही है। न-जाने कब से भूखी है? यह तो बुरा हुआ। उसने कहा—"कुमुद, तुमने कब से खाया नहीं?"

"कुछ हर्ज नहीं, न खाने से मैं मरूँगी नहीं। मरना चाहती भी नहीं। मेरे पति का पुत्र मुझे पालना है।"

"तब भोजन कर लो।" यह कहकर वे भीतर लपके।

परन्तु कुमुद ने बाधा देकर कहा—"मैं कह चुकी; मैं अन्न-जल काशी पहुँचकर करूँगी।"

"तुम भाई को कष्ट न दो, स्वयं भी परेशान न हो!"

"पर यह कैसे सम्भव हो सकता है?"

"इसमें कठिन ही क्या है?"

भाई-बहन में यह हुज्जत चल ही रही थी, कि उनकी स्त्री

वहाँ आकर बोली—"मान-मनौवल अभी ख़त्म नहीं हुई ?"

भाई ने रुष्ट होकर कहा—"तुमने रात कुमुद से खाने-पीने को भी नहीं पूछा ? तुम्हारी अक़्ल पर पत्थर पड़गये दीखते हैं !"

"पत्थर नहीं ओले । उनसे पूछनेवाले लाख हैं, अकेली क्या मैं ही हूँ ?"

भाई ने क्रुद्ध होकर कहा—"बकती क्या है ?"

"एक मेरा मुँह रोकने लगे । किस-किस का रोकोगे ?" स्त्री तेज़ी से कहकर चली गई ।

भाई ने स्त्री को गालियाँ देना आरम्भ किया । कुमुद ने खड़ी होकर कहा—"जाने दो भाई, उसे कुछ मत कहो । अच्छा, अब तुम चलते हो, या मैं अकेली जाऊँ ?"

भाई ने बहिन के पैर छूकर कहा—"कुमुद, इतनी हठ न कर, उस दुष्टा की तरफ़ न देख । तू कल की भूखी-प्यासी है, अब यों बिना खाये-पिये मेरे घर से न जा । मैं वास्तव में भ्रमवश तुझ पर अत्याचार कर बैठा ।

कुमुद ने धैर्य से, किन्तु दृढ़ स्वर में कहा—"भाई, हम एक रक्त और एक हृदय हैं, हमी जब एक-दूसरे को न समझेंगे, तो कौन समझेगा ? तुम हठ न करो, बहिन की समान रक्षा करो । मैं ज़रा भी नाराज़ नहीं, पर आत्म-प्रतिष्ठा का मैं अवश्य ख़याल रखूँगी । मैं एक प्रतिष्ठित पुरुष की पत्नी, और एक होनहार बच्चे की माता हूँ, यह मैं नहीं भूल सकती । तुम मेरी इच्छा-पूर्ति करो, वरना मैं अकेली ही अपनी इच्छानुसार करूँगी ।

अधिक हठ व्यर्थ देख, भाई सहमत हुए। दोनों व्यक्ति उसी समय घर से बाहर होकर काशी की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठ चले।

पैंतीसवाँ परिच्छेद
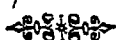
कुमुद के जेठ का नाम रामनाथ था। कुमुद के साथ मालती की घनिष्टता को वह जानता था। घर-भर को यह बात मालूम थी। यह लम्पट आदमी उस बालिका के ऊपर भी कुदृष्टि रखता था। परन्तु मालती शिक्षिता और प्रतिष्ठित घर की बेटी थी। रामनाथ का साहस उसके सामने पड़ने का नहीं हुआ था। इस बार उसने मालती पर दृष्टि डालने का साहस संचित किया। मालती नित्य-ही स्थानीय कन्या-पाठशाला में नियमित समय पर पढ़ने जाती थी। उसने मैट्रिक परीक्षा पास करने की ठान ली थी। यह सब उसने कुमुद के अनुरोध से किया था। कुमुद चलते-चलते उससे कह गई थी—"पढ़ना न छोड़ना, पढ़ने में एकदम डूब जाना, परमेश्वर पर भरोसा रखना, इतना धीरज न हो, तो मुझ पर रखना। तेरे संकट अवश्य-ही कटेंगे।"

मालती को सखी की इस बात से बहुत ढाँढ़स बँधा था। वह सब बातों से मन हटाकर पढ़ने में लग गई थी। उसके चित्त में वासना थी, चंचलता भी थी। परन्तु वह उच्च घराने की

लड़की थी। पतन होने योग्य उसके संस्कार न थे। साहस भी न था। संस्कार और स्वाभाविक भीरुता उसके रक्षा-कवच थे।

रामनाथ ने अब यह नियम बना लिया, कि मालती जब स्कूल जाने लगती तो वह द्वार पर खड़ा होजाता। स्कूल से आने के समय भी वह उसे एक बार देखने को घण्टों खड़ा रहता था। स्त्रियाँ चाहे और बातें न समझ सकें, पर-पुरुष की पाप-वासना को ज़रूर समझ लेती हैं। मालती ने भी रामनाथ की कुदृष्टि को तक लिया। पहले वह कभी आवश्यकतानुसार रामनाथ से बात कर भी लेती थी, अब वह बिल्कुल उधर दृष्टि-पात न कर, सीधी निकल जाती।

रामनाथ बड़ा-ही निर्लज्ज था। वह साहस करके खाँसने-खखारने और संकेत भी करने लगा। पर मालती के मन में उसके प्रति उपेक्षा और घृणा के भाव भरते ही गये। परन्तु यह बात उसने किसी से कही नहीं। कुमुद की ससुराल में आना तो उसने बिल्कुल ही छोड़ दिया था। अब उसने पाठशाला जाने का भी दूसरा मार्ग तलाश कर लिया।

मालती की एक भौजाई का नाम कामलता था, पर उसे लता ही के नाम से सब पुकारा करते थे। यह स्त्री नव-वयस्का थी। इसका विवाह हुए दो ही वर्ष हुए थे। इसके पति, मालती के भाई 'इलाहाबाद-लॉ-कालेज' में पढ़ते थे। फलतः लता अकेली ही रहती थी। वह मालती की समवयस्का भी थी। वह मालती के साथ सोती, खाती और बहुधा रहती थी। मालती की अपने

घर में एक उसी से घनिष्टता थी। मन के आवेग को रोक रखने में असमर्थ होकर मालती ने रामनाथ की कुदृष्टि की बात उससे कह दी।

लता भी दुर्भाग्य से चञ्चल वृत्ति की स्त्री थी। वह सधवा थी, परन्तु विपत्ति के अभाव से उसकी चपल वृत्ति अधिकाधिक व्यग्र रहती थी। वासना-सम्बन्धी बातों का उसके पेट में ख़ज़ाना भरा रहता था। वैसी बातें कहने-सुनने से उसे बड़ा रस आता था। वह मालती के प्रति रामनाथ की चेष्टाओं को बड़े ध्यान से देखने-सुनने लगी। उसके मन में रामनाथ को एक बार देखने की बड़ी इच्छा हुई, और उसने उसे देख भी लिया।

रामनाथ को देखकर भी उसके मन में रामनाथ के प्रति घृणा के भाव नहीं उत्पन्न हुए। उसने रामनाथ को नहीं, उसकी आँखों में नाचती हुई वासना को देखा। एक बार उसने हँसकर मालती से कहा—"तेरे उस बूढ़े छैला को मैंने देख लिया है। क्यों बेचारे को इतना सताती है? और कुछ नहीं, तो ज़रा एक-आध बार हँस ही दिया कर।"

मालती ने क्रोध करके कहा—"भाभी, ऐसी बातें न किया करो। उसी पापी ने कुसुम जीजी को बे-घर-बार का किया है। मुझे उससे बड़ी घृणा है।

"घृणा की क्या बात है री, अगर तेरा दूल्हा ऐसा ही होता, तब?"

मालती वहाँ से रिसाकर उठ गई। लता ने देखा, यह उतनी

रसिक नहीं है, पर फिर भी उसने साहस नहीं छोड़ा। वह समय-समय पर उसे चुटकियाँ लेती ही गई।

रामनाथ की दोस्ती मि० कालीप्रसाद से थी। इसे दोस्ती न कहकर मुसाहिबी कहें, तो अच्छा है। इसी मुसाहिबी की बदौलत उसका नाच-मुजरों, खेल-तमाशों का शौक़ पूरा हो जाया करता था। काली बाबू बस्ती के रईस युवक, सुन्दर, हँसमुख और उन सब गुणों में पूरे थे, जिनसे लम्पटों की शोभा होती है। एक बार बातों-ही-बातों में रामनाथ ने कालीबाबू से मालती का ज़िक्र कर दिया। तब से तो मालती की स्मृति कालीबाबू के दिमाग़ में घर कर गई, और रामनाथ की इज़्ज़त भी उनकी दृष्टि में बढ़ गई। वे बहुधा मिलकर उसे वश में करने के मंसूबे बाँधा करते, और घण्टों मालती के ध्यान में डूबे रहते थे। कुछ दिन बाद इन्होंने मालती के नाम पत्र भेजना प्रारम्भ किया, जिसकी चर्चा भी मालती ने लता से की; परन्तु और कोई इस बात को न जान सका। अब मालती के लिये स्कूल आना-भी भारी होगया। स्कूल की एक महरी को भी इन पापियों ने गाँठ लिया, और एक दिन जब वह स्कूल से घर लौट रही थी, उसी महरी की सहायता से फुसलाकर उसे उड़ा लिया। उड़ाकर उसे कालीबाबू के बाग़ीचे की कोठी में बन्द कर दिया गया। वहाँ वह ३-४ दिन बन्द रही। उसे वश में लाने के लिये उस पर काफ़ी अत्याचार किये गये, परन्तु मालती ने इस ओर प्राण खोने का सङ्कल्प कर लिया था।

इस प्रकार मालती-जैसी प्रतिष्ठित घराने की लड़की के एकाएक ग़ायब होने से शहर में हलचल मच गई। चारों तरफ़ खोज-पड़ताल होने लगी। मालती के घर के लोगों का तो बुरा हाल था। पापी रामनाथ भी दो बार उनसे समवेदना प्रकट कर आया था।

मालती राज़ी नहीं होगी—यह उन दोनों को मालूम होगया था, परन्तु कालीबाबू ने भी निश्चय कर लिया था, कि या तो उसे वश में करेंगे, या मार ही डालेंगे। इस प्रकार आसुरी भावना धारण कर, दोनों पापिष्ठों ने बग़ीचे में प्रवेश किया।

मालती दो-तीन दिन की भूखी-प्यासी थी। क्षण-क्षण उसे अपनी प्रतिष्ठा भंग होने का भय था। उसने निकल भागने के यथा-सम्भव उपाय किये थे, पर वे कुछ भी कारगर न हो पाये थे। वह बहुत-कुछ रो चुकी थी। कुमुद के वचन उसके साथ थे। अतः उसने एक उपाय स्थिर किया। जिस कमरे में वह बन्द थी, उसमें ऊपर की ओर एक खिड़की थी, उसी के द्वारा वह बग़ीचे के पिछले हिस्से में सड़क पर आने-जाते स्त्री पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करती, परन्तु एक तो वह स्थान ही कुछ निर्जन था, दूसरे, उस तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं जाता था। अभागिनी को इसमें कुछ सफलता नहीं मिली।

उसी खिड़की की राह वह निकल भागने की भी बहुधा सोचा करती। पर वह दूसरे मञ्ज़िल पर थी, और खिड़की के नीचे का

स्थान भी सुरक्षित न था। कोमल और निरुपाय बालिका मालती उस रास्ते नीचे उतरने का साहस न कर सकी।

सन्ध्या होगई थी, और उसकी कोठरी में अन्धकार था। उसे द्वार खुलने की कुछ आहट प्रतीत हुई। पहले उसने सोचा, वह कुटिल मालिन खाना लेकर आई होगी, जो यहाँ उसकी देख-रेख पर नियत है, और जिससे वह हज़ारों मिन्नतें कर चुकी थी। पर जब उसने साक्षात् पिशाच के समान काली-बाबू और उससे भी घृणास्पद रामनाथ को लैम्प हाथ में लिये, मुस्कराते हुए कोठरी में आते देखा, तो वह एकदम सकते की हालत में रह गई। परन्तु समय और अवसर मनुष्य को साहस प्रदान करता है। मालती ने भी साहस का संचय किया। उसने भयभीत स्वर में कहा—"मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे यहाँ से निकाल दो।"

कालीबाबू ने ज़ोर से हँसकर कहा—"समझ गया, अब सीधी राह पर आगई मालूम होती है। रामनाथ, तुम ज़रा बाहर बैठो। लैम्प को यहीं रखदो। मैं देखता हूँ, कि यह पालतू बिल्ली कितनी उछल-कूद मचाती है।"

रामनाथ लालटेन वहीं रखकर चुपचाप बाहर चला गया। कालीप्रसाद ने कमरे का द्वार बन्द करते-करते कहा—"तो अब राज़ी हो?"

कालीप्रसाद ने ख़ूब शराब पी हुई थी, यह मालती अनायास ही समझ गई। वह पलँग से पीठ सटाकर चुपचाप इस

मालती ने उस कमरे में पलँग के सिरहाने रक्खी हुई एक चिलमची उठाकर पूरे वेग से काली बाबू के सिर पर दे मारा।

भाँति खड़ी होगई, मानों वह एक ख़ूँख़ार भेड़िये के आक्रमण के मुक़ाबले की तैयारी कर रही हो।

कालीप्रसाद ने दोनों हाथ फैलाकर कुछ अनर्गल शब्द मुँह से कहे, और मालती की ओर बढ़ा। मालती ने साहस किया। वह एक क़दम पीछे हटी, और फिर उसने उस कमरे में पलँग के सिरहाने रक्खी हुई एक चिलमची उठाकर पूरे वेग से कालीबाबू के सिर पर दे मारी। कालीप्रसाद 'हाय' भी न कह सका। वह तुरन्त घूमकर धरती पर गिर पड़ा। ख़ून का फ़व्वारा सिर से बह चला।

मालती ने अब और साहस किया। उसने कम्बल और चादर को पलँग से उठाया। उसे फाड़कर और गाँठ बाँधकर रस्सी बनाई, तथा पलँग की पाटी में बाँध, वह उस खिड़की की राह, उसी के सहारे उतर चली। धरती तक पहुँचते-पहुँचते वह अर्द्ध-मूर्च्छित अवस्था में थी। जब उसके पैर धरती पर टिक गये, तब उसने कुछ सम्हलने की चेष्टा की, पर सम्हल न सकी। एक सज्जन उधर से आरहे थे। उन्होंने दूर से ही उसे साहसपूर्ण ढँग से उतरते देखा, और लपककर उसे सम्हाल लिया। उस रात्रि के धुँधले प्रकाश में उन्होंने भाँप लिया, कि कोई आफ़त की मारी बालिका है। वे उसे हाथों का सहारा दिये, एक ओर को लेगये। पास-ही एक ताँगा जारहा था। उसे बुला, उसमें उसे डाल, वे एक तरफ़ चल दिये।

अभागिनी मालती एक विपत्ति से बचकर दूसरी में आ-गिरफ़्तार हुई।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

—:※०※:—

साक्षात् नर-पिशाच चाण्डाल-स्वरूप गोपाल पाँड़े के हाथ में दुलन जयनारायण की सारी इज़्ज़त-आबरू चली गई थी। उन्हें पुत्री का पाप कहना पड़ा, और उस पापी की शरण लेनी पड़ी, बदले में देनी पड़ी दक्षिणा। एक पिता का इससे अधिक क्या अपमान हो सकता है?

परन्तु बात अपमान-ही तक सीमित न थी, उसे पुत्री को वह भयानक दवा स्वयं खिलानी भी पड़ी। कैसी भयानक बात है! मनुष्य की आत्मा की यह अद्भुत दुर्बलता है, कि वह अपराध के बीज से बचता है, पर अपराध में साहसपूर्वक डूबता है।

दवा खाने में भगवती ने बहुत-ही आना-कानी की, पर जयनारायण ने उसे खिला-ही दी। उसे ख़ून की उल्टियाँ आने लगीं, और वह बेहोश होगई। उसके मूत्र-मार्ग से भी रक्त का

प्रवाह बह निकला। तीन दिन बीतने पर भी जब हालत ख़राब होती-ही गई, तब जयनारायण पास के नगर से सरकारी डॉक्टर को बुला लाए। डॉक्टर ने सहज-ही में असली घटना का अनुमान लगा लिया। भगवती उससे कुछ छिपा भी न सकी। डॉक्टर क्रोध-से लाल मुँह किये बाहर आया; उसने जयनारायण से एकान्त में लेजाकर कहा—"मुझे तुम्हारी हालत पर अफ़सोस है, मगर मैं इस केस को बिना पुलीस में दिये नहीं रह सकता।" जयनारायण पर वज्र गिरा। वह पत्थर की भाँति निश्चल खड़ा, डॉक्टर का मुँह देखता रहा।

डॉक्टर ने वहाँ से हट, हरनारायण को दवा दी। विधि भी बता दी, और जाकर गाड़ी में बैठ गया। जयनारायण दौड़कर गाड़ी के सामने आ-खड़ा हुआ। उसने कहा—"डॉक्टर साहब, इस बदनसीब बूढ़े की सफ़ेदी का कुछ ध्यान कीजिये।"

डॉक्टर ने देखा, और दृष्टि फेर ली, और कोचमैन को बढ़ने का हुक्म दिया।

क्षण-भर में गाँव-भर में बड़े डॉक्टर के आने की बात फैल गई। 'भगवती को क्या हुआ है?'—इसकी आलोचना होने लगी। भाँति-भाँति की चर्चा उठने लगी। जयनारायण आनेवाली विपत्ति से सामना करने को, सब की आलोचनाओं से मुक्ति पाने के विचार से घर में जाकर बैठ रहे।

दिन ढलते-ही दलबल-सहित पुलीस आ-धमकी। गाँव-भर जयनारायण के द्वार पर इकट्ठा होगया। स्त्री और पुरुष सब

काम छोड़कर इस मनोहर दृश्य को देखने के लिये आ-जुटे।

जयनारायण के पैरों से धरती निकल रही थी। उसने मुँह ढाँपकर, पड़े हुए हरनारायण से कहा—"चलो बेटा, जो भाग्य में भोगना बदा है, भोगें। इस तरह पड़े रहने से क्या काम चलेगा!" उन्होंने बाहर आकर दारोग़ाजी को सलाम किया।

दो-चार भलेमानसों को साथ लेकर दारोग़ाजी ने भगवती के बयान लिये। वह सत्य बात न छिपा सकी। देखते-ही-देखते छुनिया, गोविन्दा और गोपाल पाँड़े के नाम सिपाही छूट गये, और वे लोग भी पकड़े गये। सब के इज़हार हुए। छुनिया और पाँड़ेजी ने एकबारगी-ही इस मामले में कुछ जानने से इन्कार कर दिया। इन लोगों की पूजा भी हुई।

जिस समय छुनिया और पाँड़ेजी पर पुलिस के सिपाहियों की पादत्राण-वर्षा होरही थी, तो सारे गाँव पर भयङ्कर आतङ्क छा गया। वृद्धजन सिर झुकाकर खड़े होगये, किशोर पिता-दादा की छाँह में छिपने लगे, और अबोध बच्चे गिल्ली-डण्डा फेंक-फाँककर घूँघटवाली माताओं की गोद में जा छिपे।

जयनारायण चुपचाप वज्राहत की भाँति एक तरफ़ बैठा सब कौतुक देख रहा था। शिवसहाय चौधरी ने पास आकर धीरे-से कहा—"अब इस तरह पत्थर की तरह कब तक बैठे रहोगे? ज़्यादा फ़ज़ीता कराने का काम नहीं; हुआ-सो-हुआ—मामले को रफ़ा-दफ़ा करो।"

जयनारायण मुँह उठाकर चौधरी की ओर देख भी न सके।

वह दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर रोने लगे। चौधरी ने उनके पास बैठकर कहा—"कुछ रुपये-पानी का प्रबन्ध करो, मामला यों नहीं तै होगा।"

जयनारायण ने रोते-रोते कहा—"आपको किसी तरह मेरी इज़्ज़त बचती दीखे, तो बचाइये, वरना बर्बाद तो हो ही चुका हूँ।"

चौधरी साहब चुपके-से बाहर उठ गये। देखा—हरगोविन्द-वाला सिपाही लौट आया है। उसने कहा—"वे घर पर हैं ही नहीं।"

चौधरी साहब उस कॉन्स्टेबल को संकेत करके एक तरफ़ ले गये, और कहा—"थानेदार साहब से कहकर मामला रफ़ा-दफ़ा करो।"

"अरे—राम का नाम लो बाबा!"

"क्यों?"

"ये तो रिश्वत का नाम सुनकर काटने दौड़ते हैं।—राम दुहाई!"

"भई, यह काम तो किसी तरह करना ही होगा।"

"मामला संगीन है, इनका मिज़ाज़ कड़ा है। बानक बनता दीखता नहीं है।"

"कोशिश तो करो, तुम्हारा भी हक़ मिलेगा।"

सिपाही चुपचाप थानेदार के पास जाकर कान में कुछ कहने लगा। थानेदार ने चमककर कहा—"नहीं जी, हमारे पास कोई मत आओ; हम किसी की नहीं सुनेंगे।"

सिपाही ने निराशा का भाव दिखाते हुए कहा—"चौधरी साहब, देखा आपने? वे तो हाथ भी नहीं रखने देते।"

चौधरी साहब चुपचाप सोचने लगे। सिपाही महाशय बोले—"यह तो कहो, रक़म कितनी मिलेगी?"

"जो-कुछ भी तय होजाय।"

"पाँच-सौ रुपये का मामला है।"

चौधरी साहब बोले—"अजी—इतना उसके पास कहाँ है?"

"है क्यों नहीं—गाँव की सब से तकड़ी आसामी है।"

"बावले भाई—दूर के ढोल सुहावने लगते हैं।"

"तो तुम जानो।"

"देखो सन्त्री, बूढ़े की सफ़ेदी की लाज रक्खोगे, तो बड़ा जस पाओगे।"

अन्त में दो सौ रुपये पर मामला तय हुआ।

सिपाही एक तरफ़ थानेदार को लेगया। वह मिन्नत-ख़ुशामद करता है, हाथ जोड़ता है, और थानेदार साहब तन-तनकर उठते हैं। बड़ी देर में क़ब्ज़े में आये, तब सिपाही ने चौधरी साहब को सामने पेश किया।

उन्होंने सामने आते ही झुककर सलाम किया।

थानेदार ने मुस्कराकर कहा—"चौधरी साहब, सिर्फ़ तुम्हारे लिहाज़ से यह काम हुआ है; वरना ख़ुदा की क़सम, हम अपने बाप की भी नहीं सुनते हैं।"

चौधरी साहब ने कहा—"हुज़ूर की मेहरबानी है।"

"अच्छा तो विदा करने का प्रबन्ध करो।"

चौधरी साहब ने भीतर आकर सब हाल जयनारायण को सुनाया, तो उन्हें काठ मार गया। पर चौधरी ने साफ़ कह दिया —"अब दूसरा कोई चारा नहीं है।"

लाचार बाप-बेटों ने सलाह करके कर्त्तव्य स्थिर किया। हर-नारायण चुपचाप अपनी स्त्री की कोठरी में घुस गया, और थोड़ी देर में एक छोटी पोटली लेकर बाहर आया। जयनारायण ने वह पोटली लेकर चौधरी साहब से कहा—"इन्हें गिरवी रख आना चाहिये।"

"..........."

× × × ×

आध घण्टे में सब मामला तय होगया। पुलिस ने उस गृह का पिण्ड छोड़ा। उस दिन से जयनारायण ने घर से निकलना ही छोड़ दिया। हरनारायण भी शहर में मकान लेकर जा-रहा। एक बात और रह गई। श्रीयुत गोपाल पाँड़े की अगनित जूतियों और हण्टरों से ख़ूब पूजा हुई, जिससे प्रसन्न होकर १००) नक़द दारोग़ा देवता की भेंट चढ़ाये गये। हरगोविन्द की बात कुछ साफ़-साफ़ नहीं मालूम हुई, पर पीछे सुना, कि वे आठ दिन तक कच्ची ससुराल में सम्मानित हुए थे, और पाँच-सौ रुपये चलती बार साले-सालियों को बख़्शीश दे आये !!

सैंतीसवाँ परिच्छेद
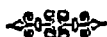
सेशन-जज की कचहरी खचाखच भर रही थी। आदमी-पर-आदमी टूट रहा था। आज राजा साहब के ख़ून का मुक़द्दमा था। मैजिस्ट्रेट की अदालत में कई पेशियाँ लगने पर मामला सेशन-सुपुर्द होगया था। नीचे की अदालत में प्रकाशचन्द्र ने जो बयान दिया था, समाचार-पत्रों की कृपा से जनता पर उसका बिजली का-सा असर हुआ था। इसीलिये आज अदालत के कमरे में खवे-से-खवा छिलता था। जज-बैरिस्टर, अमले, सिपाही अपनी-अपनी जगह उपस्थित थे। कचहरी में बाहर-भीतर भारी भीड़ थी। सब के मुख पर एक-ही बात थी।

ठीक १२ बजे जेल की गाड़ी आकर कचहरी पर लगी, और उस पर से हथकड़ियों से जकड़ा हुआ प्रकाशचन्द्र उतरा। उसका चेहरा गम्भीर किन्तु प्रफुल्ल था—नेत्रों में निर्भयता थी, और वह गर्दन ऊँची किये इस प्रकार जारहा था, मानों कोई प्रगल्भ व्याख्याता व्याख्यान देने वेदी पर जारहा हो।

सुशीला, श्यामा बाबू, प्रकाश के पिता-माता—आदि सभी अदालत में उपस्थित थे। पिता को देखकर उसने प्रणाम किया, और श्यामा बाबू को देखकर ज़रा-सा हँस दिया। ये लोग सब उदास थे। सिर्फ़ सुशीला रो रही थी—रोते-रोते उसकी आँखें सूज गई थीं। मुक़दमा प्रारम्भ होते-ही एक वकील ने आकर कहा—"मैं अपने-आपको अभियुक्त की ओर से उपस्थित करता हूँ।"

प्रकाश ने उन्हें धन्यवाद देकर कहा—"इसकी आवश्यकता नहीं। जब मैंने क़ानून को हाथ में ले लिया, तो अब मैं उसकी सहायता न लूँगा।"

जज ने नाम-धाम पूछकर उसका बयान लिया। प्रकाशचन्द्र ने बताया—

"मेरा नाम प्रकाशचन्द्र है, आयु २३ वर्ष, जाति हिन्दू। मेरे पिता पञ्जाब में उच्च सरकारी अफ़सर हैं। मैं ला-कॉलेज का विद्यार्थी हूँ। सुशीला मेरी बहिन है। उसे मृत राजा ने फुसलाकर बलपूर्वक घर मँगवा लिया था। वह साहसपूर्वक भाग न आती, तो उसकी पवित्रता अवश्य लूट ली जाती। उसने और भी कई हमले उक्त बालिका पर किये थे। यह प्रसिद्ध दुराचारी रईस था। बालिका ने रोकर अपने पर अत्याचार होने की घटना सुनाई। मैंने देखा, क़ानून इस विषय में अपूर्ण है, और उसके आसरे बैठना मर्दानगी के विपरीत है। मैं राजा के पास गया, और उससे पूछा, कि तुम अपराधी हो, या नहीं? उसने अपराध

स्वीकार किया, और मैंने उसे मारकर उचित दण्ड दे दिया। इसके बाद अपने को पुलिस के हवाले कर दिया।"

कमरे में सन्नाटा छा रहा था। जिरह में उसने कहा—"सुशीला मेरी धर्म-बहिन है। मैं ईश्वर और संसार के सामने उसका भाई और संरक्षक हूँ। मैं अविवाहित हूँ, वह विधवा है। मैं विधवा-विवाह का पक्षपाती हूँ। मैं उसके विवाह कर देने की बात सोच ही रहा था। वह मेरी ही जाति की है, पर मैं जात-पाँत नहीं मानता। मैंने उससे विवाह करने की इच्छा नीच कर्म समझा। पुरुष को स्त्री-जाति की विपत्ति में रक्षा बहिन के नाते ही करनी उचित है। यही सब से पवित्र बात है। विवाह की भावना स्वार्थमय होती है। सुशीला—परम पवित्र, सद्गुण-सम्पन्न श्रेष्ठ-कुल की कन्या है। उसने मुझे उत्तेजित नहीं किया। यह खून मैंने उत्तेजित होकर नहीं किया, विचारपूर्वक किया है।"

क्षण-भर सभी अवाक् रहे। जज ने पूछा—"क्या क़ानून को हाथ में लेना उत्तम है?"

"क़ानून अपूर्ण है।"

"फिर भी, यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की चेष्टा करे, तो क्या सार्वजनिक शान्ति रह सकती है?"

"यह प्रश्न ग़ैरत का है, और मैं खुली राय रखता हूँ, कि ग़ैरत का प्रश्न भुज-दण्ड पर ही रहना चाहिये।"

"क्या तुमने अपराध नहीं किया?"

"नहीं; मेरे मन में न ईर्ष्या थी, न क्रोध। मैंने वही किया—जो करना चाहिये।"

"यही काम तो क़ानून करता।"

"कदापि नहीं; क़ानून की रू से किसी कुलवती को छल-बल से भ्रष्ट करने की सज़ा बहुत थोड़ी है।"

"तुम कुछ और कहना चाहते हो?"

"कुछ नहीं।"

इसके बाद अदालत अगले दिन को उठ गई। प्रकाश से परिजनों को मिलने और बात-चीत करने की आज्ञा मिल गई थी।

प्रकाश के पिता ने आगे बढ़कर गम्भीरता से कहा—"पुत्र, कुछ भी हो, पर मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ।"

"पिताजी, माता को सदा-ही आश्वासन देना। माता ने आकर पुत्र के मुख पर हाथ फेरा। प्रकाश ने कहा—"अम्मा! सुशीला को तुम साथ ले जाना, और उसे तनिक-भी कष्ट न होने देना।" सुशीला अब भी रो रही थी। प्रकाश देर तक चुपचाप उसे देखते रहे। इस बार उनकी आँखों से भी आँसू बह चले। उन्होंने कहा—"सुशीला, तू मुझे प्रसन्न किया चाहती है, तो माता को उदास न होने देना।"

सुशीला प्रकाश के पैर पकड़कर बैठ गई। श्यामाबाबू ने कहा—"प्रकाश, वकील को क्यों न बोलने दिया?"

"पागल! वकील का इसमें क्या काम था?"

"अब क्या होगा?"

"चाहे भी कुछ हो।"

× × × ×

जज कुर्सी पर बैठे थे। मुक़दमे की कई पेशियाँ लग चुकी थीं। आज फ़ैसले का दिन था। अदालत में सन्नाटा छारहा था। अन्त में जज ने जलद-गम्भीर स्वर मे फ़ैसला सुनाया—

"प्रकाशचन्द्र, इसमें सन्देह नहीं, कि तुम्हारा उद्देश्य पवित्र और वीरोचित है, पर क़ानून को हाथ में लेकर ऐसी बड़ी घटना अपराध की श्रेणी में है। तुम्हारे मन में स्त्री-जाति का बड़ा मान है। उसी भाव में तुमने यह काम किया है। मैं तुम्हें ६ वर्ष का कठिन कारागार देता हूँ, परन्तु सरकार से सिफ़ारिश करता हूँ, कि वह तुम्हारे आली-ख़ान्दान, नेक-चलनी, सुशिक्षा और सदुद्देश्य का ध्यान रखकर यथा-समय रियायत करे।"

जज के बैठते-ही पुलिस अभियुक्त को ले चली। बाहर भीड़ ने "प्रकाशचन्द्र की जय!" "वीर भाई की जय!" के नारे बुलन्द करने आरम्भ किये। प्रकाश एक बार हँसकर और सब को प्रणाम करके जेल की गाड़ी में चढ़ बैठा। गाड़ी घड़घड़ाती हुई जेल की ओर चल दी।

अड़तीसवाँ परिच्छेद
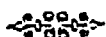
प्रकाशचन्द्र के जेल जाने के बाद में सुशीला स्थिर भाव से प्रकाश के पिता के सन्मुख आ खड़ी हुई। अब उसके नेत्रों में आँसू न थे। वह सीधी खड़ी उन से कुछ कहना चाहती थी।

प्रकाश के पिता का नाम था, राय मोतीलाल बहादुर। उनकी आयु ५५ वर्ष से ऊपर होगी। चेहरा भरा हुआ, माथा प्रशस्त और चढ़ी हुई छोटी-छोटी मूछें। सुशीला को पास आते देख, वे दो क़दम आगे बढ़ आये, और उसके सिर पर हाथ रखते हुये बोले—"बेटी, तू मन में ग्लानि न कर, मुझे पुत्र के इस कष्ट का ज़रा भी रञ्ज नहीं है। तुझे अब मेरे साथ चलना होगा, और बेटी की तरह रहना होगा।

सुशीला ने कहा "पूज्य पिता, मेरी एक प्रार्थना है।"

"वह क्या है?"

"मैं भाई को छुड़ाऊँगी, आप मुझे आज्ञा दीजिये।"

"यह किस तरह बेटी?"

"भाई ने कुछ भी अपराध नहीं किया, उन्होंने स्त्री-जाति की मर्यादा की रक्षा की है, उन्होंने पवित्र कर्म को निबाहा है। यदि अंग्रेज़ी सरकार का क़ानून ऐसी सद्भावना को अपराध समझता है, तो मैं जीवन-पर्यन्त उस क़ानून को भंग करूँगी।

"बेटी, तेरी इच्छा क्या है ?"

"मैं स्त्रियों का डेपुटेशन लाट साहब के पास लेजाना चाहती हूँ।"

"वह डेपुटेशन क्या कहेगा ?"

"वह कहेगा—यदि वह वीर भाई, अपनी बहनों की रक्षा न करता, तो क़ानून का उन अबलाओं को क्या सहारा था। क़ानून के रहते कितने पाप, दुनियाँ में होरहे हैं, फिर क्यों क़ानून के नाम पर वीर पुरुष को एक सत्कर्म के लिये दण्ड दिया जारहा है ?"

राय बहादुर साहब हँस पड़े। उन्होंने कहा—"तेरा साहस तो यथेष्ट है, पर तेरी सहायता कौन करेगा ?"

प्रकाश की माता पीछे खड़ी-खड़ी सब सुन रही थी। उन्होंने आगे बढ़कर कहा—"मैं सहायता करूँगी।"

सुशीला ने पीछे फिरकर देखा, और वह वृद्धा के चरणों में लोट गई। वृद्धा ने उसे उठाकर छाती से लगाया, और कहा—"बेटी, हम लोग बिना प्रकाश को छुड़ाये घर नहीं लौटेंगी।" रायबहादुर साहब कुछ समय गम्भीर होकर देखते रहे। फिर घर जाकर परामर्श किया। रायबहादुर साहब तो नौकरी पर लौट गये, पर गृहिणी और सुशीला वहीं रह गईं। उन्होंने मुहल्ले-मुहल्ले में घूमकर आन्दोलन करना, और सुशिक्षिता स्त्रियों का एक संघ बनाना आरम्भ किया। अख़बारों में भी काफ़ी आन्दोलन उठा। एक दिन तीन हज़ार स्त्रियों की एक सेना हाथ

में काला कपड़ा लिये गवर्नर की कोठी पर जा-खड़ी हुई। सब से आगे मुशीला और गृहिणी थीं। गवर्नर ने तत्काल दोनों को भीतर बुला भेजा, और आदरपूर्वक बैठाकर कहा—"आप लोगों का उद्देश्य क्या है?"

"हम चाहती हैं, स्त्री-जाति को अभय प्राप्त हो।"

"स्त्रियाँ ज्यों-ज्यों योग्य बनेंगी, अभय होंगी।"

"योग्य बनने के लिये उन्हें नगर में बेखतर रहना आवश्यक है।"

"यह तो सच है।"

"इसके लिये सरकार का कर्तव्य ठीक-ठीक रहना चाहिये।"

"सरकार यथा-सम्भव ऐसा करती है।"

"फिर भी भारतीय स्त्रियाँ अरक्षित हैं। अँग्रेज़ी क़ानून उनकी यथार्थ रक्षा नहीं कर सकता, जैसाकि वह अँग्रेज़ स्त्री का इँगलैंड और सारी पृथ्वी पर करता है।"

"मैं यह अनुभव करता हूँ। वास्तव में क़ानून एक ऐसी वस्तु है, जिसका सदैव संशोधन होता रहेगा।"

"फिर जब तक क़ानून अपूर्ण हो, आत्म-रक्षा का क्या उपाय किया जाय।"

"आत्म-रक्षा के लिये अपराध क़ानून में क्षम्य है।"

"चाहे वह अपराध ख़ून ही हो?"

"अवश्य।"

"और वह अपराध यदि अभिभावक ने किया हो?"

"यह तो बात ही दूसरी होगई !"

"पर इसकी आत्मा वही है।"

"मैं इसे स्वीकार करता हूँ।"

"क़ानून का यह भी अभिप्राय होना चाहिये, कि वह नीति के विरुद्ध न हो।"

"अवश्य।"

"तब हम लोग प्रकाशचन्द्र के लिये रिहाई की प्रार्थना करती हैं।"

"किस आधार पर ?"

"उसने नीति के विरुद्ध कोई काम नहीं किया।"

"परन्तु व्यवस्था और क़ानून के विरुद्ध……?"

"क़ानून तो अपूर्ण है, यह आप अभी कह चुके हैं !"

"फिर भी उसका पालन ज़रूरी है।"

"वहीं तक, जहाँ तक नीति के विरुद्ध न हो।"

"इसमें नीति-विरुद्ध क्या हुआ ?"

"एक ऐसा व्यक्ति, जो नीति की मर्यादा को पालन करता हुआ दण्डित हो—वह नीति-विरुद्ध हुआ।"

और भी वाद-विवाद के बाद गवर्नर ने महिला-मण्डल को विचार करने का आश्वासन दिया, और इस घटना के १ मास बाद प्रकाश की जेल से रिहाई होगई।

उन्तालीसवाँ परिच्छेद

—:※०※:—

कुछ लोग बहुत सीधे-साधे गौ की भाँति रहा करते हैं। पर वास्तव में वे सीधे नहीं होते, कमीने होते हैं। आत्म-सम्मान उनमें होता ही नहीं, विवेक और प्रतिष्ठा से भी उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। वे बहुधा टुकड़े के कुत्ते होते हैं, और पेट के लिये अच्छा-बुरा सभी-कुछ कर गुज़रते हैं। उनका धर्म पेट ही होता है। गोपी ऐसा ही आदमी था। इसकी उम्र ३५ के लगभग होगी। बिलकुल सूखचिड़ी, मुर्दार सी सूरत, मैले कपड़े और गन्दे दाँत, घिनौनी बे-तरतीब मूछें, चुन्धी आँखें, बढ़े हुए मैले सिर के बाल, उन पर एक पुरानी वाहियात टोपी उस व्यक्ति के नगण्य व्यक्तित्व का परिचय दे रही थी।

यह आदमी वास्तव में कुटंभ था। क्या आप जानते हैं, कुटंभ कौन होते हैं? दिल्ली में ये लोग बहुत हैं। कहना चाहिए, इन लोगों की एक जाति की जाति है। इनका पेशा भले घर की बहू-बेटियों को इधर-उधर अड्डों पर ले जाना, और वहाँ लुच्चे-लफंगों को पहुँचाना है। गोपी ब्राह्मण था, पढ़ा-लिखा भी था। उसका पिता शहर का एक भलामानस नागरिक है, पर दो वर्ष से यह व्यक्ति घर से बाहर है। प्रथम वेश्या-गमन की आदत पड़ने से यह युवक पढ़ने से रह गया। ख़र्च की तंगी से घर की

चीज़ें चुराने लगा। जब पिता ने घर से निकाल दिया, तब पेट के लिये इसने यह धन्धा किया। शुरू में वेश्याओं के लिये वह लजीले शिकारों को ताकता रहता। बहुत-से नौसिखिए युवक, जिन्हें पाप के पथ में जाने का अभी अभ्यास नहीं, उसमें प्रसन्न होने योग्य निर्लज्जता भी नहीं—बहुधा गन्दे बाज़ारों में चक्कर लगाया करते हैं। उन्हें कोठों पर चढ़ने का साहस प्रायः होता ही नहीं। गोपी-जैसे आदमी उनके लिये बड़े काम के होते हैं। गोपी ऐसे-ही लड़कों को सड़क के एक किनारे खड़े होकर भाँपता रहता था। ज्यों-ही वह समझता, शिकार ठीक है, वह झट-से आगे बढ़कर उनके सामने पहुँचता, मुस्कराकर एक सलाम झुकाता और धीरे-से कान में सुखद सम्वाद पहुँचाता, तथा जैसे गड़रिया भेड़ों को लेजाता है, उन्हें अपने पीछे-पीछे लेजाता।

गोपी को केवल पेट ही न था, उसे चण्डू, मदक पीने और कोकीन खाने की भी आदत पड़ गई थी। रोटी के बिना काम चल सकता था, पर इन चीज़ों के बिना नहीं। इसलिये उसके गुज़ारे के लिये यह कुकर्म छोड़, अन्य कोई वृत्ति ही न थी।

परन्तु इस काम में उसे किसी प्रकार की आत्म-ग्लानि होती हो, यह बात न थी। वह बड़े मज़े में था। इसमें भी उसने कुछ हथकण्डों के ढंग निकाल लिये थे। अब वह बाज़ारू वेश्याओं की अपेक्षा ख़ानगियों से ज़्यादा सम्बन्ध रखता था। वहाँ उनसे ज़्यादा कमीशन मिल जाता था। वह कुछ चालाकियाँ भी कर गुज़रता था। चालाकियाँ कैसी, यह भी सुनिये—'किसी अनभिज्ञ,

भोले-भाले युवक को उसने फाँसा—'चलिये बाबूजी, एक बहुत बढ़िया घरेलू चीज़ दिखाऊँ; सिर्फ़ अठन्नी का ख़र्च है, पसन्द न हो चले आइयेगा।' बाबू साहब साथ होलिये। वह किसी गली में एक अँधेरे ठिकाने पर लेगया। अठन्नी वसूल की।—"आप ज़रा यहीं खड़े रहें।" कहकर एक घर में घुस गया। क्षण-भर बाद बाहर आकर कहा—"एक मिनट यहीं ठहरिये, मैं अभी बुला लाता हूँ।" वह रफ़ूचक्कर हुआ। अब आपकी जब तक तबियत हो, खड़े रहिये, वह तो अब आने का नहीं।

अस्तु, यही गोपी बसन्ती के पास बैठा था। ठण्ड काफ़ी थी, बसन्ती चौकी पर पैर फैलाए बैठी, मज़े से आग ताप रही थी। उसने एक रेशमी दुलाई बदन पर लपेटी हुई थी। वह पान चबा रही थी, और इतरा-इतराकर उस घृणित युवक से बातें कर रही थी। वह बात-बात पर क़स्में खाता था, हँसता था, मिन्नतें करता था, हाथ जोड़ता था। बसन्ती एक-रस उसकी सब भाव-भंगी सुन रही थी, वह उसी पर प्रकट किया चाहती थी, कि वह उसे घोर घृणा करती है। उसने अब एक अँगड़ाई लेते-लेते कहा—"अच्छा, अब चल, लम्बा बन, उनके आने का वक़्त होरहा है। मगर याद रख, ऐरे-ग़ैरे को यहाँ लाने का काम नहीं है।"

गोपी ने हाथ जोड़कर कहा—"भगवान् की क़सम, मैं शरीफ़ों से ही वास्ता रखता हूँ। वे मुसलमान हैं तो क्या है, मगर एक-ही रईसज़ादे हैं।"

बसन्ती ने होठों में हँसकर कहा—"चल, चल—बहुत रईस-ज़ादे देखे हैं। कुछ गाँठ में भी है या कोरे रईसज़ादे हैं?"

गोपी ने पास खसककर बसन्ती के पैर दबाने का उपक्रम करते-करते कहा—"पहले ही दिन पचास न गिनवा दूँ, तो बात नहीं।"

बसन्ती की आँखें चमकने लगीं। उसने कहा—"सच?

"गंगा की क़सम", गोपी की घृणित आँखें भी चमकीं। "पर सुनो, दस से कम न लूँगा। मामला साफ़ अच्छा होता है।"

बसन्ती हँस पड़ी। उसने कहा—"अच्छा, आज नहीं कल। अब तू रास्ता नाप।"

वह स्वयं ही उठ खड़ी हुई। गोपी ने उठते-उठते कहा—"आज तो कुछ भी मिला नहीं। कुछ नशे-पानी को तो दिलवाओ। गङ्गा की क़सम, दम निकला जाता है।"

"अरे, मुये, तेरा कलेजा जलकर ख़ाक हो जावेगा।"

इस पर गोपी ने हँसकर ज़रा ऊँची गर्दन करके कहा—"इस मज़े को तुम क्या जानो! कहो, तो कल एक पुड़िया लाऊँ?"

"क्यों रे! क्या सचमुच उसमें शराब से ज़्यादा मज़ा है?"

"शराब इसके सामने क्या हस्ती रखती है?"

"तो कल एक पुड़िया लाना।"

"लाओ, फिर एक चिट्टा झुकाओ।"

बसन्ती ने एक रुपया फेंककर उसे चले जाने का इशारा किया, और वह चुपचाप पलँग पर आकर पड़ रही।

———

चालीसवाँ परिच्छेद

पतन भी जीवन का एक अद्भुत स्वरूप है; ख़ासकर यदि नारी का पतन हो। नारी की मर्यादा, उसकी पवित्रता, उसकी प्रतिष्ठा बहुत ऊँची है। अस्मत उसका सर्वोपरि धन है। अस्मत के लिये नारी-जाति ने सहस्रों बार वीरतापूर्वक प्राण दिये हैं। वही अस्मत पतन के मार्ग पर चलकर केवल नारी ही बेच सकती है, और उसके मूल्य की गिरती हुई दर पर जब ग़ौर किया जाय, तो फिर खेद को छोड़कर और कुछ हाथ नहीं लगता।

बसन्ती भले घर की बेटी थी। वह पढ़ी-लिखी भी थी; उतनी, जितनी हिन्दू-कन्याएँ साधारणतया पढ़ा करती हैं। वह चंचल थी, और फिर संस्कारों की ग़ुलाम हुई। स्कूल की अध्यापिकाओं और सहेलियों ने उसे पतन की झाँकी कराई। अभागिनी बूढ़े से ब्याही गई, और अति बाल्यावस्था में विधवा भी होगई। माँ-बाप मर गये। कहिये, अब इस चपल दुर्बल-हृदया हिन्दू-बालिका के लिये कौन-सी गति है? उसने भीख माँगी, भूखी रही, कष्ट सहे। विपत्ति के साथ यौवन ने भी उस पर आक्रमण किया। उसने विपत्ति से युद्ध का अच्छा अभ्यास नहीं किया था, कि यौवन ने उसे पछाड़ दिया। वह पतन के रास्ते पर वह चली। उसके सामने पेट था, शरीर था, जीवन था।

जीवन का आदर्श भी कुछ होता है, यह उसे कौन बताता? वह आदर्श को भूलकर पेट पर टूट गई!

प्रथम बार उसे जिस युवक ने फुसलाया था, उसका उसके घर आना-जाना अब भी जारी था। पर अब गोपी-जैसा कीड़ा उसके सामने आगया था। उसने पाप की दूसरी पोथी पढ़ना प्रारम्भ किया। अब वह इस दशा को पहुँच चुकी थी, कि वह कभी उसके विपरीत सोच ही नहीं सकती थी: वह अपनी हालत में खुश थी। वह यह नहीं समझती थी, कि वह अपना शरीर बेच रही है। वह समझती थी, कि मैं शिकार फँसाती हूँ। मनुष्यों को विजय करती हूँ।

वही पतित गोपी और उसके साथ एक मुसलमान युवक वहाँ बैठे थे। शराब का प्याला और बोतल बीच में धरी थी। युवक ने शराब प्याले में उँडेलकर कहा—"पीजिये।"

बसन्ती पीती तो थी, पर बहुत कम। आज उसकी मात्रा बढ़ गई थी। उसने कहा—"जी नहीं, मैं इतना ज्यादा शौक नहीं रखती; आप पीजिये।"

पर युवक पूरा चपट था। उसने दो-चार प्याले उसे और पिला दिये। बसन्ती अनर्गल बकवाद कर रही थी। उसे आपे का ज्ञान न था। गुनहगार गोपी मतलब गाँठ रहा था। बसन्ती ने अनायास ही अपना शरीर उस अपवित्र युवक को बेच दिया।

फिर तो सिलसिला जारी ही रहा। वह युवक वास्तव में

कोई बड़ा आदमी न था; एक निकृष्ट प्राणी था। झूठी शान बनाकर यहाँ आया था। वह शान शीघ्र ही उड़ गई। परन्तु बसन्ती पर उसका प्रभाव था। अपने पुराने प्रेमी के प्रति उसके मन में तिरस्कार उदय होगया था। वह कुछ दिन तक तो अपनी इस पाप-वार्त्ता को छिपाती रही, पर शीघ्र ही भंडा-फोड़ होगया। इसी नारकी गोपी ने गोविन्दसहाय को सब भेद बता दिये। गोविन्दसहाय आता, तो प्रायः दोनों में चख-चख चला ही करती। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों गोविन्दसहाय रूखा और सख़्त हाथ होता गया, बसन्ती भी उससे तिनकती गई। उसने गोविन्दसहाय से अलग होने का पक्का इरादा कर लिया।

इधर गोपी ने गोविन्दसहाय को बसन्ती के विरुद्ध भड़काया था, उधर वह बसन्ती को भाँति-भाँति के सब्ज़ बाग़ दिखाने लगा। शीघ्र ही वह लुका-छिपाकर और भी निकृष्ट आदमियों को वहाँ लाने लगा। बसन्ती अब गले तक डूब चुकी थी। उसका अन्तःज्ञान सो गया था। उसकी शराब की मात्रा भी बहुत बढ़ गई थी, और वह कोकीन भी खाने लगी थी। उसका वह रूप भी सूख गया था। आँखें गढ़े में धँस गई थीं, होठ सिकुड़ गये थे, शरीर झुक गया था, और काला होगया था। चेहरे की कान्ति नष्ट होगई थी। इसे वह समझती थी, और अब उसका शृङ्गार बढ़ गया था। वह पाउडर लगाती, आँखों में काजल और होठों में सुर्ख़ी लगाती। वस्त्रों का भी वह काफ़ी हेर-फेर रखती। अब वह मनुष्य-मात्र को मोहने का इरादा रखती

थी। वह चाहती थी, कि उसकी मोहने की शक्ति जितनी बढ़ सके, अच्छी है।

वह जिस मोहल्ले में रहती थी, वहाँ अब उसकी गुज़र न सकी। उसे वह घर छोड़कर नीच लोगों के मोहल्ले में एक घर लेना पड़ा, जहाँ अबाध रूप से उसका पाप-व्यवसाय चलने लगा। गोपी अब दिन-भर उसी के घर पड़ा गालियाँ और झूठे टुकड़े खाया करता। वह एक प्रकार से उसका ग़ुलाम था। अब वह सोलह-आने उसी का एजेण्ट था। वह दिन छिपते ही शिकार की तलाश में निकलता, और जहाँ तक बनता, दो-चारों को रोज़ फँसा लाता। इस प्रकार बसन्ती पाप की वैतरणी में ग़ोते लगाने और बहने लगी। गोविन्दसहाय बहुत कम आने लगा था। इधर कुछ दिन से, जब से एक बार झड़प हो चुकी थी, वह बिल्कुल नहीं आया था। आज बसन्ती अकेली बैठी थी। उसकी तबियत अच्छी न थी। गोपी उसके पास बैठा तलुए सहला रहा था। गोविन्दसहाय ने अचानक कमरे में प्रवेश किया। वह सामने कुर्सी खींचकर बैठ गया, और कड़ी दृष्टि से गोपी की ओर देखने लगा। मामला गहरा देख, बसन्ती ने गोपी को बाहर भेज दिया, और फिर सिंहनी की भाँति घूर-घूरकर गोविन्दसहाय को देखने लगी।

इकतालीसवाँ परिच्छेद
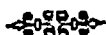
गोविन्दसहाय ने सिंह की तरह उछलकर बसन्ती को पछाड़ दिया। वह उसकी छाती पर सवार होगया, और ज़ोर-से उसका गला दबाकर कहा—"हरामज़ादी, सच बता, और कौन यहाँ आता है?"

बसन्ती ने पूरा ज़ोर लगाया, पर छुट न सकी। अन्त में उसने यथा-सम्भव चिल्लाकर कहा—"यहाँ लाख आवेंगे, तुम रोकनेवाले कौन हो? तुम्हारी कोई दबैल हूँ, या ब्याहता?"

"मैं उसे भी तुम्हारे साथ मार डालूँगा। बता, उसका नाम क्या है?"

"जो न मार डाले, तो तेरी जननी पर धिक्कार है! मैं नहीं बताऊँगी।"

गोविन्दसहाय ने और भी ज़ोर-से गला दबाकर कहा—"बता लुच्ची, बता—वह यार कौन है?"

"कभी नहीं, जान भले-ही चली जाय।"

गोविन्दसहाय ने उसका सिर धरती पर पटककर कहा—"माल खायेगी मेरा, और मौज करेगी यारों से—क्यों?"

"हाँ, हाँ, यारों से।" इतना कहते-कहते अवसर पाकर उसने गोविन्दसहाय की कमीज़ फाड़ डाली, और उसे काट लिया।

अब एक बार ज़ोर-से उसे पटककर गोविन्दसहाय उठ खड़ा हुआ। बसन्ती अभी उठे-ही-उठे, कि उसने एक धोती से उसे कसकर बाँध दिया, एक अँगोछा उसके मुँह में ठूँस दिया। इसके बाद वह उस घर की तलाशी लेने लगा। जो हाथ लगा —नक़दी और क़ीमती सामान की उसने एक गठरी बाँधी। इसके बाद बसन्ती के शरीर के गहने-पाते उतारकर वह लम्बा हुआ। बसन्ती छटपटाती रही, पर उसकी एक न चली।

गोविन्दसहाय के जाने के थोड़ी-ही देर बाद एक युवक ने घर में प्रवेश किया। यह मुसलमान था। उसने झटपट उसके हाथ-पैर खोले, और माजरा पूछा। बसन्ती ने छूटते-ही कहा— "वह ख़ूनी सब लूट ले गया। कुछ भी न छोड़ा।" वह दौड़-दौड़कर घर-भर में घूमने लगी। इसके बाद चिल्लाकर बोली— "हाय! हाय!! कुछ भी न रहा।"

युवक ने कहा—"मैंने तुम से कहा था न, पर तुमने न माना। अगर तुम सारा माल-ताल मेरे सुपुर्द करती, तो ऐसी जगह रख देता, कि किसी को हाथों-हाथ भी ख़बर न पड़ती।"

"अब क्या करना चाहिये? क्या उस मूंज़ी को यों-ही छोड़ दिया जायगा?"

"आख़िर माल तो उसी का था?"

"उसने क्या अहसान में दिया था? शरीर बेचकर पाया था।"

"फिर क्या करना चाहती हो?"

"उस पर मुक़दमा चलावेंगे।"

"उससे क्या होगा?"

"मैं उससे पाई-पाई वसूल करूँगी।"

युवक मूर्ख और कोई नीच आदमी था। सब बातें तो समझा नहीं, बोल उठा—"अच्छी बात है, सुबह—एक वकील हैं, मेरे दोस्त, वहाँ तुम्हें ले चलूँगा।"

रात-भर दोनों बदनसीब वहीं रहे। सुबह दोनों निकले, और वकील साहब की सुध ली। वकील साहब थे नये रँगरूट—न आगे नाथ न पीछे पगहा। न मुवक्किल, न मुहर्रिर। एक टूटी-सी मेज़, दो तीन-तीन टाँग की कुर्सी, और तीन-चार मैली पुरानी किताबें। युवक पीछे, और वसन्ती आगे-आगे थी। इस अद्भुत मुवक्किल को देखते-ही वकील साहब की बाँछें खिल गईं। युवक ने जो पीछे-से इशारा किया—उसे समझकर तो फिर वे फूलकर कुप्पा होगये। मुवक्किल को सामने कुर्सी पर बैठाकर कहा—"कहिये, क्या काम है?"

"एक मुक़दमा है।"

"कैसा मुकदमा है, बताइये?"

"एक बदमाश कल रात मेरे घर में घुसकर, ज़ोर-ज़ुल्म से सब-कुछ लूट ले गया।"

"हूँ! लूट ले गया?"

"जी हाँ।"

"तुम चिल्लाई नहीं?"

"वह छाती पर चढ़ बैठा, और मुँह में कपड़ा ठूँस दिया।"

"हूँ...कोई गवाह?"

"गवाह कौन होता?"

"बिना गवाह के मुकद्दमा कैसे चलेगा?"

"अब यह मैं क्या जानूँ?"

"उसकी और तुम्हारी कुछ आशनाई तो न थी?"

"यह मैं नहीं बताने की।"

"लो, जब तक सब बातें न बताओगी, हम समझेंगे क्या, और लड़ेंगे क्या?"

"आशनाई थी, तभी तो।"

"कब से आता था?"

"तीन साल से।"

"झगड़ा क्यों हुआ?"

"औरों के आने पर।"

वकील साहब झिझके। फिर कहा—"बुरा न मानना। बात समझने के लिये पूछता हूँ। तुम कौन जात हो?"

"बनिया।"

"क्या पेशा कमाती हो?"

"पेशा क्यों कमाती? अपने घर रहती हूँ।"

"घर में और कौन है?"

"मैं तो अकेली हूँ।"

"रहनेवाली कहाँ की हो?"

"यह न बताऊँगी।"

"यहाँ कैसे आई?"

"वही आदमी उड़ा लाया था।"

"अच्छा, खुलासा हाल कह जाओ; कैसे-कैसे यहाँ आई।"

बसन्ती कुछ देर को चुप हुई। फिर वह कहने लगी—। "मेरा घर कहाँ है, यह न बताऊँगी। घर में सास और पति हैं। वह परचूनी की दूकान करता है। वह गोविन्दसहाय हमारे गाँव में आता-जाता था। माल-टाल भी ख़रीदवा लेता था। मेरे आदमी को पागल कुत्ते ने काट खाया, और वह कसौली के अस्पताल में जाकर मर गया। तब से हम दोनों सास-बहू रहने लगीं। गोविन्दसहाय का जाना-आना तो लगा ही रहता था। उसने मुझसे आँखें लड़ाना शुरू किया—पहले तो मैं डरी—पर एक दिन जब वह आया, तब मेरी सास कहीं बाहर गई थी। उसने पानी माँगा—मैंने भीतर बुलाकर पिला दिया। बस, इसने हाथ पकड़ लिया। मैंने बहुत ना-नूँ की; इसने एक न सुनी—ज़बर्दस्ती मेरा धर्म बिगाड़ दिया, और ५) का नोट देकर चला गया। इसके बाद और दो-तीन बार ऐसा हुआ। अन्त में एक दिन हमारे क़ौल-क़रार होगये। मैं रात को छत पर चढ़कर पड़ौस की एक बुढ़िया के घर में उतर गई। उससे हमने कुछ लालच देकर पहले-ही बन्दोबस्त कर रखा था। वहाँ मैं ३ दिन भुस की कोठरी में छिपी रही। वह तीन दिन तक गाँव में घूमता रहा, जिससे किसी को इस पर शक न हो। जब दौड़-धूप बन्द होगई;

सब रेल में बैठकर यहाँ आगई। तीन साल से यहाँ रहती थी।"

वकील साहेब ने सब सुनकर कहा—

"यहाँ झगड़े का यही कारण है, जो बताया था, और कुछ?"

"कुछ दिन से उसका मन मुझसे उतर गया था। वह एक और लड़की को फुसलाने को कहता था—पर वह हाथ न आती थी, इस पर जब चख़-चख़ चलने लगी, तब मैंने भी अपना रास्ता देखा। बात यही हुई।"

वकील साहब बोले—

"अच्छी बात है, मैं मुक़द्दमा लड़ूँगा। गवाह का प्रबन्ध भी कर दूँगा। मगर फ़ीस क्या दोगी?"

"मेरे पास कुछ नहीं है।"

"वाह, फिर काम कैसे चलेगा?"

"मैं हर तरह ख़िदमत में हाज़िर हूँ।"

वकील साहेब भेद-भरी आँखों से उसे देखने लगे। बोले—

"एक बात मानोगी?"

"क्या?"

"मुसलमान हो जाओ।"

"उससे क्या होगा?"

"हम घर में डाल लेंगे।"

"मेरा धर्म-ईमान?"

"लो, अभी तुम धर्म-ईमान को साथ-ही लिये फिरती हो!"

"और जो फिर धोखा दिया?"

"लाहौलविला-क़ूवत, ऐसा भी कहीं होता है ?"

बसन्ती सोच में पड़ गई। अन्त में दोनों शैतानों ने उस बदनसीब को मुसलमान होने पर राज़ी कर लिया, और उसी दिन वह मुसलमान करली गई। इसके बाद उसे समझा-बुझाकर मुक़द्दमे के झंझट में न पड़ने को भी राज़ी कर लिया। वे दोनों कुत्ते उससे अपनी लिप्सा तृप्त करने लगे। खर्च था, तँदूर की दो रोटियाँ, और ज़रा-सा सालन! अलबत्ता शराब की जो लत उसे पड़ गई थी, वह उससे न छूटी। यहाँ उसके पैर और भी बढ़ गये।

बयालीसवाँ परिच्छेद

जिस पुरुष ने आकर मालती को सहारा दिया, उसे मालती ने होश-हवास ठीक होने पर ग़ौर से देखा। उसे देखकर वह भयभीत होगई। उसका ठिगना क़द, भरभराया लाल चेहरा, छोटी-छोटी आँखें, खिचड़ी बाल देखकर वह छिटककर ज़रा अलग जा-खड़ी हुई।

उस व्यक्ति ने यथा-सम्भव अपनी खरखरी आवाज़ को मधुर बनाकर कहा—"माजरा क्या है बहिन जी; क्या मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ ?"

मालती पर इस सम्बोधन और भाषण का अच्छा असर हुआ। उसने कुछ रुदन-भरे स्वर में कहा—"मैं दुष्टों के फन्दे में फँस गई हूँ। आप कौन हैं, नहीं जानती—पर मैं यशोदानन्दनजी की पुत्री हूँ, जो शहर के प्रतिष्ठित वकील हैं। आप कृपाकर मुझे घर तक पहुँचा सकते हैं? आपका बड़ा अहसान होगा।"

मालती की बात सुनकर उस व्यक्ति ने कुछ आँखें चढ़ाकर कहा—"अरे! आप यशोदानन्दनजी की लड़की हैं? तब तो अपनी ही लड़की हुई। यशोदानन्दनजी तो अपने पुराने मित्र हैं।" इतना कहकर उस व्यक्ति ने कुछ फ़ासले पर खड़ी एक स्त्री की ओर देखकर कहा—"सुना तुमने देवीजी? ये बिचारी यशोदानन्दनजी की लड़की हैं—वही यशोदानन्दन, जिन्हें उस दिन तुमने दावत दी थी, जिस दिन डिप्टी साहेब हमारे यहाँ आये थे।"

इस पर देवीजी ने मुस्कराकर सिर हिला दिया, और तनिक निकट आकर कहा—"तुम्हारा नाम क्या है बीबी?"

"मेरा नाम मालती है!" उसने अस्तव्यस्त होकर कहा।

"अरे, तुम मालती हो? मैंने तुम्हें ज़रा-सी देखा था; अब इतनी बड़ी होगई?"

मालती अभी तक घबरा रही थी। उसने कहा—"कृपाकर आप मुझे घर तक पहुँचा दें।"

अब उस व्यक्ति ने कुछ चिन्तित स्वर में कहा—"पर घर में तो कोई है नहीं, आज-ही सब लोग तुम्हारी खोज में बनारस

गये हैं। बेचारों ने धरती आसमान एक कर डाला है। यह किसे ख़बर थी, कि तुम यहाँ छिपी बैठी हो?"

मालती ने घबराकर कहा—"अब क्या होगा?"

"यही तो सोचना है।" यह कहकर वह व्यक्ति गम्भीर सोच में पड़ गया। फिर उसने देवीजी को सम्बोधन करके कहा—"मुझे कचहरी का ज़रूरी काम है—वरना मैं इन्हें बनारस जाकर यशोदाजी के सुपुर्द कर आता। अब और किसे भेजूं? ऐसा करो, तुम्हीं न चली जाओ, मैं रेल में बैठा दूंगा। मणिकर्णिका पर-ही तो यशोदा बाबू ठहरेंगे। मैं कचहरी से फ़ारिग़ होते ही चला आऊँगा।"

देवीजी ने कहा—"यह कैसे हो सकता है? आख़िर कल-ही तो भाई की शादी है, फिर वहाँ से लौटकर शादी में कैसे शरीक हो सकती हूँ?"

"अब शादी में शरीक होना नहीं मिलेगा। देखती हो, लड़की कितनी घबराई है। इससे ज़्यादा वे घबरा रहे होंगे। अब शादी को देखा जाय, या इस काम को?" इसके बाद उस व्यक्ति ने घड़ी देखकर कहा—"एक गाड़ी तो अभी छूट रही है। सिर्फ़ १५ मिनट की देर है। स्टेशन ८-७ मिनट का रास्ता होगा। लो, अब सोचा-विचारी न करो, इस बेचारी को यशोदा जी को सौंप आओ। इस गाड़ी से जाकर तुम कल तक आ-भी तो सकती हो।"

देवीजी राज़ी होगईं।

मालती कुछ भी न सोच सकी, कि क्या करे। इन पर विश्वास करे, या नहीं--बनारस जाय, या नहीं। वह विमूढ़ की भाँति उनके पीछे-पीछे स्टेशन तक चली गई। उस व्यक्ति ने दो टिकिट ख़रीदकर ज़नाने डिब्बे में उन्हें बैठा दिया, मालती के खाने-पीने की भी व्यवस्था कर दी।

गाड़ी चलने पर देवीजी की लच्छेदार बातों से मालती कुछ बेफ़िक्र होकर सो गई। जब वह उठी, बनारस निकट आ गया था। मालती माता-पिता से मिलने को उत्सुक हो रही थी। वह जल्दी-जल्दी गाड़ी से उतरी। देवीजी ने घोड़ा-गाड़ी किराये की, और वह धड़धड़ाती नगर की ओर चल दी।

देवीजी ने रास्ते में कहा—"अच्छा तो यह है, कि हम पहले घर चले चलें। वहाँ तुम्हें छोड़कर फिर मैं तुम्हारे पिता को ढूँढ़ूँ। न-जाने कहाँ उतरे हैं! तुम कहाँ-कहाँ भटकती फिरोगी?

मालती ने कहा—"हर्ज क्या है? मैं साथ ही रहूँगी।"

देवीजी ने कहा—"बेटी, तुम तो समझती नहीं, अभी तुम्हें इन बातों का ज्ञान ही नहीं है। सिर उठाया, और चलदीं। इसी से तो यह मुसीबत सिर पर ली। अब मेरा कहना मानो। पहले घर चलें, पीछे मैं उन लोगों को ढूंढकर ले आऊँगी। मुझे आज-ही लौटना भी है। भाई की शादी में मैं बिना गये नहीं रह सकती।"

मालती कुछ विरोध न कर सकी। पर उसका कलेजा धड़-धड़ाने लगा। देवीजी के सङ्केत पर गाड़ी कुछ देर तक गली में

चलकर एक बड़े मकान के आगे रुक गई। मालती ने उतरकर देखा, मकान पर साइनबोर्ड लगा था—'विधवा-आश्रम'। उसने हिचकिचाते हुए देवीजी से पूछा—"क्या आप यहीं रहती हैं?"

देवीजी ने उपेक्षा से 'हाँ' कहा—और भीतर चलदी। निरुपाय मालती भी भीतर चली गई।

भीतर दालान में तीन-चार आदमी एक टूटी-सी मेज़ को आगे धरे बैठे थे। एक कोई २५–२६ वर्ष का नवयुवक था। वह बात-बात पर मुस्कराकर जवाब देता था। दो-तीन आदमी और खड़े थे। वे पूरे गुण्डे दीख पड़ते थे। इन्हें देखते ही सब की आँखें खिल गईं। सब ने एक-स्वर से पूछा—"इस बार क्या माल लाई हो?"

देवीजी ज़रा हँसी, परन्तु चुप रहने का सङ्केत करके कहा—"ऊपर का मेरा कमरा खुलवादो, और एक तुम शङ्कर, ज़रा दौड़ जाओ, मणिकर्णिका-घाट पर कहीं यशोदानन्दनजी वकील ठहरे हैं, उन्हें साथ-ही ले आओ। कहना, मालती मिल गई है, और वह आश्रम में सुरक्षित है।" शङ्कर ने एक ख़ास प्रकार का संकेत पाया, और दिया भी। फिर वह 'बहुत अच्छा' कहकर चल पड़ा, देवीजी मालती को लेकर ऊपर चढ़ आईं। कमरे में जाकर देखा ख़ासा सजा है। वह एक कुर्सी पर बैठकर शङ्का, उद्वेग औा घबराहट से तिलमिलाने लगी। देवीजी यह कहकर, कि 'मैं नित्य-कर्म से निपट लूँ'—वहाँ से खिसक गईं। वह एकाएक मालती के

प्रश्नों और सन्देह से बचना चाहती थी, और सब वातावरण को ठीक भी किया चाहती थी।

मालती जब कमरे में अकेली रह गई, तो वह अपनी दशा पर विचार करने लगी। एक अज्ञात भय उसके हृदय में उत्पन्न होगया। वह सोचने लगी—विधवाश्रम में वह क्यों लाई गई है? विधवाश्रम के सम्बन्ध में वह कुछ विशेष नहीं जानती थी। पर फिर भी वह कुछ सुन अवश्य चुकी थी। और वह जितनी जल्दी सम्भव हो, वहाँ से निकल-भागने को व्याकुल होने लगी। वह कमरे से बाहर आई। एक बार सरसरी नज़र से उसने पूरे मकान को देखा, फिर उसने तमाम घर को और उसके रहनेवालों को अच्छी तरह देखने का संकल्प कर लिया। पहले उसने दूसरे खण्ड की सैर की। वह एक छोटी-सी छत पार करके सामने के एक बड़े कमरे की तरफ़ चली गई। इसमें से बातचीत करने और हँसने-बोलने की आवाज़ आरही थी। उसमें जाकर उसने देखा—उसमें तीन औरतें बैठी हैं। एक की उम्र तीस के लगभग होगी। वह दुबली-पतली बदसूरत-सी औरत थी। उसके गाल पिचक रहे थे, और मुँह पर बड़े-बड़े दाग़ पड़ गये थे। उसकी नाक भी बीच से बैठ गई थी। दूसरी, एक १९-२० साल की युवती थी, पर बुढ़िया-सी मालूम देती थी। उसके नेत्रों में दुष्टता साफ़-साफ़ झलक रही थी। तीसरी, एक १६-१७ साल की लड़की थी। यह कोई नीच जाति की लड़की थी, और लावारिस माल की भाँति आगई थी।

उसने तीनों से बातचीत की। उससे उसने समझा, कि पहली पूर्व की रहनेवाली बनैनी है। एक मुसलमान उसे उड़ा लाया था। वहाँ से भागकर यहाँ आ फँसी है। ये लोग पति के पास पहुँचाने का वचन देकर लाये थे, पर अब शादी कराने पर तुले हुए हैं। दूसरी बरेली की नाइन थी, जिसे चोरी के अपराध में दो मास की सज़ा होचुकी थी। वहाँ से वह सीधी इस आश्रम में ले आई गई। तीसरी कोई कंजर की लड़की थी, जो भटकती फिर रही थी—यहाँ रख ली गयी थी। इन सब को देख, और इनकी बातें सुनकर मालती के मन में जो शंका थी, वह और भी मज़बूत होगई, और वह समझ गई, कि वह बड़े भारी जंजाल में फँस गई है। अब वह छत के दूसरे छोर पर चली आई। वहाँ दो युवतियाँ बारीक पाट की धोती पहने बैठी थीं। उन्होंने हँसकर मालती का स्वागत किया। मालती ने समझ लिया, कि ये पतित स्त्रियाँ यहाँ के वातावरण में पूरी तौर पर रँग गई हैं, और इनको अपने पतित जीवन पर तनिक भी लज्जा नहीं है। वे अनेक-बार बहुतों को उल्लू बना चुकी हैं।

मालती अब तेज़ी-से अपनी कोठरी में चली आई। देवीजी वहाँ प्रथम ही आगई थीं। उन्होंने रोप भरे स्वर में कहा—"वहाँ क्या करने गई थीं?"

मालती ने उसके प्रश्न का कुछ भी उत्तर न देकर कहा—"क्या मेरे पिताजी का पता चला?"

"वे वहाँ नहीं मिले; मेरा आदमी उन्हें ढूँढ़ रहा है।"

"मैं जल्द-से-जल्द यहाँ से चली जाना चाहती हूँ।"

"यहाँ तुम्हें कुछ कष्ट हुआ क्या?"

"कष्ट कुछ नहीं, पर मेरी यहाँ एक मिनिट भी रहने की इच्छा नहीं है।"

"बिना अधिष्ठाताजी के आये तो तुम जा सकतीं नहीं।"

"अधिष्ठाता कौन?"

"वही, जो तुम्हें वहाँ मिले थे; जिन्होंने तुम्हें यहाँ भेजा है।"

"क्या वे यहाँ के अधिष्ठाता हैं?"

"हाँ।"

"और तुम?"

"मैं सुपरिण्टेण्डेण्ट हूँ।"

"तुम?"

मालती की आँखों से आग निकलने लगी। उसने कहा—"तब तुम लोगों ने धोखा देकर मुझे यहाँ ला डाला है।"

"वहाँ क्या तुम अपने महल में बैठी थीं? इतनी लाल-पीली क्यों होती हो?"

मालती ने क्रोध से काँपते हुए कहा—"सच कहो, कि क्या मेरे पिताजी के यहाँ आने की बात सत्य है?"

"मैं क्या जानूँ? अधिष्ठाताजी जानें; वहाँ तो वे मिले नहीं।"

"समझ गई, मैं ठगों के फन्दे में फँस गई हूँ। परन्तु खैर इसी में है, कि मुझे तुम अभी चली जाने दो।"

देवीजी बिना जवाब दिये, वहाँ से उठ खड़ी हुईं। मालती ने उसका पल्ला पकड़कर रोकना चाहा। देवीजी ने उसे धकेल-कर बाहर से कुण्डा चढ़ा दिया। मालती अचानक धक्का खाकर गिर पड़ी। देवीजी वहाँ से सीढ़ी उतर आईं, और एक नौकर को उस कोठरी में ताला बन्द कर देने की आज्ञा देदी। कोठरी पर कड़ा पहरा भी बैठा दिया गया।

तेंतालीसवाँ परिच्छेद

वृद्धा गृहिणी अपने घर में उदास बैठी बर्तन माँज रही थी। उसका मुख फीका, आँखें तेज-हीन, और मन चञ्चल होरहा था। इतने में नारायणी रोती हुई माता के पास आई। गृहिणी ने कुछ उपेक्षा के स्वर में कहा—"क्या है री? क्यों रोती है?"

नारायणी रोती रही। माता ने फिर पूछा—"कुछ कहेगी भी, क्या हुआ?"

नारायणी ने रोते-रोते कहा—"कुन्दन की बहू जीजी को गाली दे रही थी।"

"गाली दे रही थी? क्यों? उसने उसका क्या किया है?"

नारायणी ने रोना बन्द करके कहा—"मैं पानी लेकर आ रही थी, इधर से कुन्दन की बहू, और इज्जो आ रही थीं—मुझे देखकर वे तरह-तरह की बात कहने लगीं।"

"क्या कहने लगीं ?"

नारायणी चुप रही। पर माता के फिर पूछने पर कहा—"उन्होंने कहा—'जलमुँही भग्गो ने पेट गिराया है। राँड यारों से मिल रही है, और माँ-बाप उसकी कमाई............'"

नारायणी और कुछ कह रही थी, कि वृद्धा ने अधीर होकर हाथ के बासन पटक दिये, और कड़ककर कहा—"बस-बस, बके मत ! चुप रह ! जा घर में, लुची-राँड ! पराये घर की कूँची-गाँची चाँव-चाँव बखानती फिरती है, खतखसमी कहीं की ! आने दे, राँडों का चोटा पकड़कर उपाड़ लूँगी।" इतना कहकर वृद्धा क्रोध से अधीर होकर इधर-उधर टहलने लगी। नारायणी नीचा सिर किये घर में चली गई।

इतने-ही में कनछिद की बहू ने आँगन में प्रवेश करते करते कहा—"क्यों काकी ! क्या यह सच है ?"

गृहिणी ने वक्र दृष्टि से उसकी ओर देखते-देखते कहा—"क्या री ?"

उसने और धीरे-से वृद्धा के कान में झुककर कहा—"यही, जो लुगाई भगवती को नाम धरती फिरती हैं ?........."

कनछिद की बहू पूरी बात कह भी न पाई थी, कि वृद्धा ने दाँत पीसकर कहा—"कुतियाँ, पराये घर की बहू-बेटियों पर क्यों दाँत घिसती फिरती हैं ? उनके घर में क्या बहू-बेटियाँ नहीं हैं ?"

पड़ोसिन ने रङ्ग-ढङ्ग ख़राब देखकर दबी ज़बान से कहा—"यह तो मैं भी कहती हूँ।"—और चम्पत हुई।

अब की जयगोपाल की नानी घर में घुसी। वह गम्भीर भाव से गृहिणी के पास आकर, पैर फैलाकर बैठ गई। गृहिणी ने कुछ न कहा; चुपचाप अपना काम किये गई। नानी ने महा-नुभूति से गृहिणी के कान के पास झुककर कहा—"क्यों री, हरी की माँ, बुढ़ापे में तुम्हारी मत भी मारी गई, तुमने भी देख-भाल नहीं करी ?"

गृहिणी ने उसकी ओर देखकर कहा—"कैसी देख-भाल ?"

"इस लड़की की—गाँव-भर के लोग जन्म में थूक रहे हैं। मुँह दिखाने को जगह नहीं रही।"

गृहिणी ने झुँझलाकर कहा—"लोगों को पराये घर की इतनी फ़िकर क्यों है ? उनके घर में क्या सब मर गये हैं—जो मेरे घर यक-यक करने को आते हैं ?"

नानी ने बात टालने के ढंग से कहा—"और क्या ? अपनी-अपनी इज़्ज़त-आबरू सभी रखते हैं। कोई एक कहे, तो ऐसी फटकारना, कि याद करे ! सुनके मुझ से तो रहा न गया। कहने को चली आई। अच्छा अब जाती हूँ।" कहकर नानी जान लेकर भागी।

इतने-ही में भङ्गन घर साफ़ करने आई। आते-ही उसने कहा—"आग लगे इन लुगाइयों को, जैसे कोई काम-ही नहीं है।"

गृहिणी ने कुछ न सुना। वह चुपचाप दम-मारे बासन माँजती रही।

मेहतरानी ने तीर खाली जाता देखकर कहा—"बहूजी! तुमने कुछ सुना भी?"

"क्या?"

"सुसरी लुगाईं भग्गो का नाम ले-लेकर ठौर-ठौर बक रही हैं।"

गृहिणी ने अधीर होकर कहा—"बकती हैं, तो बकने दे। भगवान् करे, उनके घर में भी यह कौतुक हों! भगवान् करे, उनके कोद चुएं;—जो पराई बात पर मटकें!"

मेहतरानी ने देखा, कि पूरी बात कहने का अवसर ही जा रहा है। वह बोली—"मैंने भी लुच्चियों को ख़ूब सुनाई।"

वृद्धा वहाँ खड़ी न रही, वह तीव्रता से भगवती की कोठरी की ओर लपकी।

चवालीसवाँ परिच्छेद

"अरी कुलच्छनी! कुलबोरनी! तू पैदा होते ही क्यों न मर गई? मेरी ही कोख में तुझे जन्मना था, सत्यानासन!!"

भगवती विषण्ण भाव से अकेली बैठी मन-ही-मन अपनी अवस्था पर विचार कर रही थी। पहली बार जिस काम को महा-दुष्कर्म समझकर अपराधिनी की भाँति काँप उठती थी, अब उसे वह दुष्कर्म नहीं समझती। अनेकों बार उसने मा-बाप, भावज-भाई

की मार, झिड़की, अपमान सहे थे। पर अब उसने विचारा, कि आख़िर इन लोगों को यह सब कहने का अधिकार ही क्या है? स्त्री-पुरुष व्याह करके रहते हैं, तब तो पातक नहीं लगता। हमारा भी व्याह मानो मन-ही-मन में होगया है। और यदि यह पाप ही है, तो उसे मैं ही तो भोगूँगी, ये क्यों चाँव-चाँव करके सिर खाये जाते हैं? इन्हीं सब विचारों में भगवती अनमनी-सी बैठी थी। तभी उसकी माँ ने दुःख और क्रोध में यह वचन कहे।

भगवती बहुत सह चुकी थी, अब न सह सकी। उसने क्रोध से सिंहनी की तरह गर्जकर कहा—"क्या है? क्यों मेरे पीछे टक-झक लगाई है? जीते-जीते तेरे बाल सफ़ेद होगये हैं, मरने का नाम नहीं लेती। मेरी ज़िन्दगी तुम लोगों को ऐसी भारी पड़ गई है, कि दिन-रात मुझे कोसते रहते हो। मरो तुम, सब मर जाओ; मेरी जूती मरेगी।" इतना कहकर वह क्रोध से थर-थर काँपने लगी।

जो कभी न हुआ था, उसे देखकर भगवती की माता अवाक् रह गई। उसने क्रोध से अधीर होकर कहा—"तेरी यह ज़बान! मेरे सामने! एँ?"

अब भगवती ने अपनी पूरी ऊँचाई में तनकर खड़ी होकर कहा—"हाँ-हाँ, तेरे ही सामने! तू है कौन?"

"तू कभी मेरी कोख में नहीं आई थी? कभी तेरे लिये मैंने कुछ किया नहीं था? क्यों—तू अपनी माँ को अब नहीं पहचानती? डायन!"

"तू मेरी माँ है ? तभी न दिन-रात मुझे कोसा करती है। मैं हाड़-माँस की थोड़ी हूँ, लोहे-पत्थर की हूँ। तुम लोग ख़ुशी से जीओ, गुलछर्रे उड़ाओ, और मैं मर जाऊँ ! क्यों ? डायन तू है, कि मैं ?"

बूढ़ी ने यथेष्ट विषम दृष्टि से पुत्री को ताकते हुए कहा—"हम तेरी-ही तरह सुनाम कमाते फिरते हैं न—यारों के पास ?"

"किसने रोक रक्खा है ? कमाओ न ? तुम दस-दस यार लगाओ।"

अब गृहिणी क्रोध को न रोक सकी। उसने तिलमिलाकर एक अधजली लकड़ी उठा ली, और भगवती को मारने चली। भगवती ने लपककर लकड़ी छीनकर फेंक दी, और एक ऐसा धक्का दिया, कि बुढ़िया धरती में गिर पड़ी। उसकी नाक से ख़ून बहने लगा।

गृहिणी धीरे-धीरे कराहती हुई उठ बैठी। क्रोध, अपमान और दुःख से उसे आत्म-विस्मृति होगई थी। उसने भगवती को देखा, कि वह सिंहनी की तरह उसे घूर रही है। उसे इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर उसने कहा—"छिनाल ! चल दूर हो यहाँ से।"

"क्यों ? मैं यहीं तेरी छाती पर मूँग दलूँगी।"

"जो अब कभी उधर जाती देखी, तो जीभ खींच लूँगी।"

"जाऊँगी—ज़रूर जाऊँगी। तुम से बने, तो रोक लेना।"

गृहिणी ने दाँत कटकटाकर कहा—"मुझे ख़बर नहीं थी, कि

तेरी ज़बान सौ गज़ की होगई है। ठहर, तेरे बाप को भेजती हूँ, साँपिन। तेरा सारा ज़हर तब उतरेगा।"

"भेज दे, अभी भेज दे। बाप और भाई, सब मेरे जान के दुश्मन हैं, कसाई हैं। जो मेरे सामने आवेगा, ख़ून पी जाऊँगी, पगड़ी उतार लूँगी। जिसको हिम्मत हो, आवे, मेरे सामने आवे।"

वृद्धा किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर भगवती की ओर देखती रह गई। उसकी आँखें पथरा गई। भगवती ने कड़ककर कहा—"इस तरह मरे बैल-जैसे दीदे निकाले क्या ताक रही है, क्या मुझे खाजायगी? मैं बदनाम हुई। नाम, मान, इज़्ज़त, सुख, सब चला गया। गाँव में मुँह दिखाने को जगह नहीं रही है। अब कसर क्या रही है, जो मैं कुछ सोचूँ-समझूँ। याद रखो, मेरा तो नाश हुआ ही है, पर तुम्हारा सब का नाश करूँगी। मैं तो डूबती ही हूँ, पर तुम सब को ले डूबूँगी! अपने पेट की बेटी को जिस तरह कुत्तों की तरह दुरदुराया है, उसी तरह मैं भी भी सब का ख़ून पीऊँगी! पीऊँगी! पीऊँगी!! मैं अब वह भगवती नहीं हूँ। मुझे राक्षसी समझना—भला!"

इतना कहते-कहते उसके बाल बिखर गये। मुँह में झाग आगये। आँखें निकलने लगी। बावली की तरह भगवती वहाँ से हट गई।

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

—❀❀❀—

वृद्धा गृहिणी उस क्रोध, अपमान, घृणा और दुःख के वेग को न सहकर वहीं बैठ गई। ऐसा मालूम होता था कि मानों अभी उसके प्राण निकल जायँगे। न तो उसकी आँखों में आँसू ही थे, और न वह रो-ही रही थी। उसका दम फूल रहा था, आँखें पथरा रही थीं, और चेहरे पर मुर्दनी छा रही थी। उसे ऐसा मालूम होता था, मानों सारा घर घूम रहा है। वह एक दीवार के सहारे बैठे-बैठे बेहोश होगई। थोड़ी देर में हरनारायण उधर से निकला। उसने देखा, माता दीवार के सहारे धरती पर पड़ी हैं। झपककर पास जाकर देखता है—तो वह मूर्च्छित है, शरीर ठण्डा होगया है, और साँस भी बन्द हो रहा है। वह घबरा गया। पहले तो उसने दौड़कर एक खाट खींचकर उस पर माता को डाला, फिर अपनी स्त्री को बुला और वहाँ बैठाकर पिता के पास दौड़ा। हरनारायण को घबराये आते देख, जयनारायण ने खड़े होकर पूछा—"क्या है?"

"जल्दी चलो—देखो, माँ को क्या हुआ?"

जयनारायण जल्दी-जल्दी भीतर आये। इस बीच में वृद्धा होश में आगई थी, पर पागल की तरह चारों ओर देख रही थी। चेहरे की मुर्दनी भी वैसी-ही बनी थी।

जयनारायण ने करुणा-भरे कम्पित स्वर में धीरज देते हुए पूछा—"हुआ क्या ? तबियत तो ठीक है ?"

गृहिणी का बोल न निकला—उसकी जीभ तालू से सट गई थी। उसने पानी माँगा। नारायणी और उसकी भाभी भी वहीं खड़ी थी। नारायणी दौड़कर पानी ले आई, और माता के मुख में डाल दिया।

जयनारायण विपयण भाव से स्त्री का वह भयंकर मुख देख रहे थे। गृहिणी ने बेचैनी से उनकी ओर देखते-देखते टूटे-फूटे शब्दों में कहा—"मैं मरी नहीं हूँ। मौत भाग गई—भाग गई !! मुझे कहीं से ज़हर तो ला दो।" इतना कहकर गृहिणी इस प्रकार छटपटाने लगी, मानों हज़ारों बिच्छुओं ने एक-साथ उसे डंक मारा हो।

नारायणी रोकर माता से लिपट गई। उसका शरीर अभी बहुत दुर्बल था। उससे माता को धीरज तो बँधाया नहीं गया, स्वयं भी रोने लगी। जयनारायण ने कठिनता से अपने उमड़ते हुए हृदय को रोककर कहा—"इतनी बड़ी होकर यह बालकों की तरह क्या कर रही हो ? आख़िर बात क्या है—यह भी तो मालूम हो।"

वृद्धा ने एक हाथ से नारायणी को दूर हटाते हुए पति की ओर बेसब्री से देखते-देखते कहा—

"अब मैं बचूँगी नहीं। यह देखो, मेरा प्राण निकला जा रहा है !" इतना कहते-कहते वह फिर बेचैनी से खाट पर अपना सिर

पटकने लगी। हरनारायण किंकर्त्तव्य-विमूढ़ की तरह खड़ा था। अब उसने लपककर माता का सिर गोद में रख लिया, और चारपाई पर बैठ गया।

गृहिणी पड़ी-पड़ी कराहने लगी। कुछ ठहरकर हरनारायण ने माता से नम्रता से पूछा—"माँ! हुआ क्या है? कुछ बात तो कहो। कुछ तकलीफ़ है क्या? वैद्यजी को बुलावें?"

गृहिणी ने अब की बार मुँह उठाकर पुत्र के विवरण और करुणापूर्ण मुख को देखा। अब की बार उसे कुछ ज्ञान हो आया। उसने कलपते-कलपते कहा—

"अरे बेटा, वह मेरी लाड़ली! मेरी कोख की बेटी......"

इससे आगे न बोला गया। वह फिर उसी तरह सिर धुनने लगी, और हँफनी बढ़ गई। उस समय भगवती को छोड़कर वहाँ सब उपस्थित थे। वृद्धा के मुख से ये शब्द निकलते ही सब डर गये। कहीं उस अभागिनी ने कुछ खा-पी तो नहीं लिया। जयनारायण ने हड़बड़ाकर कहा—

"भगवती! उसे क्या हुआ? उसने कुछ किया है क्या?"

इतना कहते-कहते जयनारायण भगवती की कोठरी की ओर दौड़े। भगवती को वहाँ न देखकर सब घबरा गये। नारायणी भी पिता के पीछे-पीछे रोती और 'जीजी-जीजी' चिल्लाती हुई दौड़ी।

भगवती द्वार बन्द किये बैठी थी। जयनारायण ने उसे पुकारा। भगवती क्रोध से भभकी हुई थी। उसने समझा, माता ने इन्हें सब बात कहकर भेजा है। वह चुपचाप बैठी रही। जय-

नारायण अब एकदम घबराकर बोले—"भगवती! अरी भगवती! तू क्या कर रही है?" भगवती तब भी चुप रही।

जयनारायण के हृदय में और ही शंका समा रही थी। वे किवाड़ तोड़ने की फ़िक्र में लगे। नारायणी खड़ी रोती रही।

भगवती ने देखा—अब ख़ैर नहीं है। उसने आकर किवाड़ खोल दिये, और तनकर पिता के सामने खड़ी होगई। जयनारायण ने उसे भला-चङ्गा देखकर अघाकर साँस ली। पर अभी उनकी घबराहट न गई थी। इसी से भगवती का रङ्ग-ढङ्ग उन्होंने न देख, उसी भाव में कहा—

"भगवती, तू किवाड़ बन्द किये क्या कर रही थी? देख तो, तेरी माँ को क्या हुआ है?" नारायणी दौड़कर बहन से लिपट गई।

भगवती अभी पिता का भाव न समझी थी। उसने नारायणी को एक ओर ठेलते-ठेलते कहा—"माँ को क्या हुआ है? निश्चय जानो, वह मरनेवाली नहीं है।"

जयनारायण पुत्री के मुख से ऐसी कठोर बात सुनकर दंग रह गये। उन्होंने अब जो ध्यान से उसका मुख देखा, तो उस पर सदा का दीन और विनय-भाव नहीं था। उसकी आँखों में भयानक क्रोध की ज्वाला जल रही थी, और होठ घृणा से सिकुड़ रहे थे।

उन्होंने तनिक रुष्ट होकर कहा—"तुझे उसकी ज़िन्दगी बड़ी खटकती है। उसने तुझे जन्म तो न दिया था न?"

"इसीलिये उसे मेरी जान लेने का, और कोसने का अधिकार है ?"

भगवती ने जैसी अविनय और घृणा से ये बातें कही, उससे अत्यन्त रुष्ट होकर जयनारायण बोले—"तुझे हो क्या गया है, बेवकूफ़, तू क्या ऊट-पटाँग बक रही है ?"

पिता के क्रोध से तनिक भी विचलित न होकर भगवती ने उसी भाव में कहा—"मैं बिलकुल ठीक ही कहती हूँ। माँ और बाप, सभी मेरी जान के दुश्मन हैं। मैं नित्य देखती हूँ, कि वे नित्य मेरी मृत्यु-कामना करते हैं, मुझे फूटी आँख भी नहीं देख सकते। मैंने भला किया तो, और बुरा किया तो—मेरा भाग्य मेरे साथ है। मेरे बदले कोई और तो नर्क में जावेगा नहीं,—फिर क्यों लोग मुझे कच्चा खाजाने को राक्षस की तरह बैठे हैं ?"

इतना कहकर भगवती ने और भी ज्वालामय नेत्रों से पिता की तरफ़ देखा।

अब की बार जयनारायण के क्रोध में दुःख की छाया दीख पड़ी। उन्होंने उसी भाव में कहा—"अभागिनी सन्तान अपने माता-पिता के हृदयों को नहीं समझ सकती।" इतना कहते-कहते उनकी आँखों से दो बूँद पानी टपक पड़ा।

भगवती पर उसका कुछ प्रभाव नहीं हुआ। वह उग्र स्वर में बोली—"पर मैं तो खूब जान गई हूँ ?"

"क्या जान गई है ?"

"कि तुम मुझे मारना चाहते हो।"

"और ?"

"और मेरा सर्वनाश !" इतना कहते-कहते जोश में भगवती का मुँह लाल होगया।

जयनारायण पुत्री के साहस और अविनीत आचरण से चकित होकर बोले—"भगवती ! तुझे अपने बाप के सामने यह बातें कहते लज्जा नहीं आती ?"

"लज्जा ? लज्जा अब है ही कहाँ ?—और मेरे माँ-बाप ही कहाँ हैं ? मेरे माँ-बाप होते, तो क्या मेरी यह गति बनती ? मैं कुत्तों, जानवरों, भिखमँगों से भी अधिक दुःख, अपमान और अवहेलना में स्नान कर करके बर्षों से टुकड़े खा रही हूँ, खून पी-पीकर जी रही हूँ, बदनामी की स्याही से मुँह काला होरहा है, लोग मेरा नाम लेने में घृणा करते हैं, सुहागन मुँह नहीं देखतीं,—अपने बच्चों पर परछाईं तक नहीं पड़ने देतीं, भले घर की बेटियों को मेरी हवा भी लग जाती है, तो उन्हें पाप लगता है। माँ-बापों के सामने सन्तान की ऐसी दुर्दशा हो सकती है क्या ? मेरे माँ-बाप कहाँ हैं ? मैं तो राक्षसों के बीच पड़ गई हूँ।" इतना कहते-कहते भगवती उन्मादिनी की तरह अपने कपड़े नोच-नोचकर फेंकने लगी। उसके मुँह में फिर झाग भर आये, और आँखें आग उगलने लगीं।

जयनारायण दोनों हाथों से आँख छिपाकर फूट-फूटकर रोने लगे। फिर बोले—"सच है बेटी ! तुम राक्षसों के ही बीच में हो, हम तुम्हारे माँ-बाप नहीं हैं।" कहकर जयनारायण चल दिये।

नारायणी भगवती से लिपटकर रोने लगी। भगवती भी बहन से लिपटकर रो उठी।

छियालीसवाँ परिच्छेद
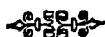
अठारह घण्टे तक भूखी-प्यासी मालती उस कोठरी में बन्द पड़ी रही। इस बीच में वह एक बार तो अच्छी तरह सो भी ली। उसने इस असीम विपत्ति से अपना उद्धार करने के लिये पूरी मुस्तैदी से तैयारी कर ली थी। उसकी आत्मा की दुर्बलता भाग गई थी, और उसमें सिंह की भाँति पराक्रम का उदय हो-गया था।

जब प्रथम बार अधिष्ठाताजी दर्वाज़ा खोलकर उसके कमरे में घुसे, तब वह अचानक ही सिंहिनी की भाँति उछलकर उनके ऊपर टूट पड़ी। अधिष्ठाताजी ने इसकी कल्पना भी न की थी। वे भरभराकर गिर पड़े। मालती ने इस पर तनिक भी ध्यान न कर, उन्हें लातों और घूँसों से कुचलना शुरू कर दिया। अधिष्ठाताजी 'हाय-हाय' करने लगे। आश्रम में हल-चल मच गई। देवीजी नीचे भागकर चिल्लाने लगीं। मालती ने अवसर पाकर भीतर का कुण्डा बन्द कर दिया, और बिस्तरे की चादर से अधिष्ठाताजी को बुरी तरह लपेटकर बाँध दिया। वे इतने विवश होगये, कि न तो उठ सकते थे, न बचाव कर सकते थे। मालती

लातों से उनका भुस कर रही थी। कोठरी के बाहर आश्रम के सब स्त्री-पुरुष जमा थे। वे किवाड़ तोड़ने की चेष्टा कर रहे थे। मालती ने ललकारकर कहा—"दुष्ट, कुत्ते! तुझे मैं अभी जान से मारे बिन न छोड़ूँगी। तू इस भाँति भले घर की बहू-बेटियों को बहकाकर इस अड्डे में लाकर बेचने का धन्धा करता है। अभागिनी अबलाओं की असहायावस्था से अनुचित लाभ उठाता है। तू गाय की सूरत में सिंह है!"

अधिष्ठाताजी गिड़गिड़ा रहे थे, और मिन्नतें कर रहे थे। बाहर से दर्वाज़ा तोड़ने की चेष्टा होरही थी। मालती ने चार-पाई उलटकर धरती में पड़े अधिष्ठाता पर डाल दी, उस पर मेज़ उलट दी, फिर उसने पीछे की खिड़की खोलकर चिल्लाना शुरू किया। उसकी चिल्लाहट सुनकर पास-पड़ौस के मनुष्य घरों में से झाँकने लगे। गली में भी लोग इकट्ठे होगये। पुलिस भी आ गई। पुलिस-इन्स्पेक्टर के आने पर मालती ने दर्वाज़ा खोल दिया। उसके वस्त्र चिथड़े-चिथड़े होरहे थे, और वह पसीने से तर-बतर होरही थी। उसकी आँखों से अब भी आग निकल रही थी, और वह अपनी पूरी ऊँचाई में तनी खड़ी थी।

पुलिस-इन्स्पेक्टर के कहने से वह एक कुर्सी पर बैठ गई। इन्स्पेक्टर ने कहा—"अब थोड़ा पानी पीजिये, और ठण्डी होकर बयान दीजिये।"

मालती ने कहा—"इस पापपुरी में मैं जल नहीं पीने की; आप बयान लिखिये।"

इसके बाद मालती ने संक्षेप से अपनी दुर्दशा का हाल बयान कर दिया। वह किस भाँति फुसलाई गई, यह भी कह दिया, और किस तरह अठारह घण्टे तक ज़बर्दस्ती बन्द की गई, वह भी बता दिया।

बयान लेने पर इन्स्पेक्टर ने अधिष्ठाताजी को चारपाई के नीचे से निकलवाया। लातों के मारे उनका भुस होगया था, और उनके होश-हवास गुम होगये थे। इन्स्पेक्टर ने उनका भी बयान लिया। आश्रम की तलाशी भी ली। दो स्त्रियाँ ऊपर की मंज़िल में और क़ैद की हुई मिलीं। कुछ ज़ेवर भी बरामद हुआ। इन्स्पेक्टर साहब सब सामान ले, अधिष्ठाता और देवीजी की बारात सजा, मालती और अन्य सभी स्त्रियों को साथ ले, थाने की ओर रवाना हुए।

सैंतालीसवाँ परिच्छेद

—:॥:—

हमें विश्वास नहीं होता, कि हमारे पाठकों में एक भी व्यक्ति ऐसा हृदय-हीन होगा, जो परम सन्तप्त जयनारायण के प्रति अपनी गाढ़ सहानुभूति न रखता हो। पर हम यह निवेदन करने को विवश हैं, कि अभी उस अभागे की दुरवस्था का अन्त नहीं हुआ है। आज एक ऐसा समाचार उसे मिला है, जो अत्यन्त कष्टकर है। चार दिन से बिरादरी की पञ्चायत होरही थी। जय-

नारायण को जाति-पतित किया जाय या नहीं, यही विषय उपस्थित था। अनेक वादविवाद के पश्चात् यही निश्चय हुआ, कि या तो जयनारायण लड़की को घर से निकाल दें, और गङ्गा-स्नान करके पाँचसौ ब्राह्मणों को भोजन दें अथवा जाति-बहिष्कृत समझा जावे। शिवराम पाँडे और हरभजन चौधरी यही समाचार लेकर उनके पास आये हैं। जयनारायण पहले तो चुपचाप सिर लटकाये बैठे रहे, फिर एकाएक कुछ गर्म होकर बोले—"आप लोग पञ्चों से कहदें, कि मुझे जाति-बिरादरी से कोई वास्ता नहीं है, अपनी सन्तान को कौन घर से निकाल देता है?"

चौधरीजी ने समझाते हुये कहा—"ये बेसमझी की बातें मत करो। तुम बाल-बच्चेदार आदमी हो, बिरादरी बिना कैसे रह सकते हो?"

जयनारायण ने झुँझलाकर कहा—"जब बिरादरी मेरे बाल-बच्चों का गला घोटने को तैयार है, तो ऐसी बिरादरी पर मैं थूकना भी नहीं चाहता।"

शिवराम पाँडे बोले—"इन छोटे बच्चों का क्या करोगे? एक के पीछे सब को क्यों आफ़त में डालते हो? और फिर बिरादरी नाहक़ही का दण्ड दे रही हो, यह बात भी नहीं है। लड़की ने काम कुछ कम बुरा किया है?"

जयनारायण ने लाल-लाल आँखों से उनकी ओर ताककर कहा—"मेरी लड़की ने जैसा किया, उसका फल भोग लिया है। जिसका पर्दा बना रहे, वही अच्छा। अभी मैं खोज करने निकलूँ,

तो जाने किस-किस की बहन-भतीजी निकलें, जिनके सामने मेरी लड़की हज़ार दर्जे अच्छी है ।"

शिवराम पाँडे एकदम सर्द पड़ गये । उनकी बोलती बन्द हो गई । पर चौधरीजी ने बिरादरी के अपमान का प्रभाव बता-कर कहा—"अब अच्छी तरह सोचलो । समय पर जो काम हो जाता है, पीछे किसी तरह नहीं होता ।"

अब तो बाल-बच्चों की दुर्दशा का ख़याल करके जयनारायण रोने लगे । अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा । भगवती को घर-से बाहर कर देने का निश्चय रहा । अब सलाह यह होने लगी, कि उसे भेजें कहाँ ?

जयनारायण ने कहा—"अच्छी बात है, मैं उसका पुनर्विवाह किये देता हूँ ।"

चौधरी साहब बोले—"पुनर्विवाह कैसे करोगे ? यह भी तो अधर्म है ।"

"जो अधर्म साबित करें, उन्हें बुलाइये—साबित करूँगा । मैंने धर्म-शास्त्रों के प्रमाण संग्रह किये हैं, और काशी के बड़े-बड़े पण्डितों की व्यवस्था भी ली है ।"

चौधरीजी बोले—"यह सब व्यर्थ है । जो चाल बिरादरी में नहीं है, उसे करना ठीक नहीं है । बाक़ी आपकी समझ है । नीति की यह शिक्षा है, मनुष्य को सोच-समझकर काम करना चाहिये, नहीं तो पीछे पछताना पड़ता है । आगे आपकी समझ है ।" इतना कह, चौधरीजी चलने को लकड़ी उठाने लगे ।

जयनारायण ने उन्हें रोककर कहा—"ज़रा ठहरिये।" इतना कह, वे सोचने लगे। अन्त में यही निश्चय हुआ, कि भगवती को कहीं तीर्थ-स्थान में रहने के लिये भेज दिया जाय।

इसके अनन्तर जयनारायण ने सबको विदा कर दिया; क्योंकि अब वे अपने कष्ट को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

अड़तालीसवाँ परिच्छेद

—०ॐ०—

सन्ध्या के छः बजकर पैंतीस मिनट पर गाड़ी बनारस के स्टेशन पर पहुँची है। गाड़ी के खड़ी होते ही चढ़ने-उतरनेवाले यात्रियों की धूम-धड़क्कन मच गई है। हम अपने पाठकों का ध्यान दो यात्रियों की ओर आकर्षित करते हैं। इनमें एक स्त्री है, दूसरा पुरुष। दोनों उदास हैं। एक-दूसरे से कोई बात नहीं करता है। पाठक इन्हें पहचानते हैं, ये दोनों हरनारायण और भगवती हैं। दोनों सगे भाई-बहिन हैं। दोनों ने चिरकाल तक एक माता का दूध पिया है—एक-साथ खेले हैं। ये दोनों यद्यपि इस समय अपने बालपने की मधुर स्मृति को भूल गये हैं, पर उनकी माता को उस ज़माने की सब बातें याद हैं। वे कहा करती थी, हरनारायण ने कभी मेरी भग्गो को नहीं मारा। भग्गो गुड़िया खेलती, तो हरनारायण उसे नई-नई गुड़ियें बना दिया करता था। घर में कोई खाने-पीने की वस्तु आती, तो

भगवती उसमें से "माँ, भैया के लिये रखदे," कहकर आधी अवश्य हरनारायण के लिये रख देती। कहाँ तक कहें—जो भाई-बहन हैं, जिनके बीस वर्ष सुख-दुःख में एक साथ बीत चुके हैं, उनकी कोई क्या बात कहे? पर आज वह बात नहीं है। आज दोनों दोनों से मुँह छिपा रहे हैं। अब भगवती को 'भैया' कहकर भाई के मुख की ओर देखने का साहस नहीं है। कारण, उसकी आँखों में अब दूध की-सी स्वच्छता नहीं रही। हरनारायण 'भग्गो' कहता हुआ जब कभी बहन की ओर देखता है, तब उसकी आँखों से हँसी का नूर नहीं टपकता है; उनमें से भयानक हलाहल विष, तीव्र अपमान, असह्य वेदना की वर्षा होती है। इसका कारण पाठक समझते हैं। भगवती—ग़रीब अनाथा भगवती—दीन-दुनियाँ, इहलोक-परलोक सब से पतित होगई है। इस स्वार्थ-भरी दुनियाँ में ग़रीब-निवाज़ कौन है? अनाथों का नाथ कौन है? दीनदयाल कौन है? पतितपावन कौन है? मनुष्य नहीं है। मनुष्यों में से ये गुण कब के उठ चुके हैं। एक है भगवान्—सो अभागिनी को उसी का आसरा है। चाहे कोई भाई हो, या माँ—बन्धु हो, या बाप—उसे कहीं कुछ न मिलेगा। भगवती ने आशा-भरोसा सब त्याग दिया है।

पाठक, ऐसी ही दशा में अबला भगवती है। जाति, देश और समाज यदि सब मिलकर चाहते, तो सम्भव था, वह सुखी हो सकती। पर हिन्दू-समाज पत्थर से भी कठोर, वधिक से भी निर्दय, और पशु से भी अधिक अज्ञानी है। ये हत्यारे पुरुष,

प्रथम उन कोमल आत्माओं के हृदय को मसोस डालते हैं, और फिर उन्हें सड़ने को मोरी और नावदानों में फेंक देते हैं। उनका कहना है, कि इस रोग की कोई दवा नहीं है—इस ज़ख्म का कोई मरहम नहीं है—इस व्याधि का कोई प्रतिकार नहीं है। धर्म-शास्त्र की आवाज़ की यहाँ अवहेलना होती है, न्याय का गला घोंटा जाता है, और अन्त की बात क्या?—ये पत्थरों से दया की भीख माँगनेवाले मनुष्य-पशु अपनी बहन-बेटियों पर दया भी नहीं करते! ऐसा हिन्दू-धर्म का तत्व-दर्शन!

अस्तु, भगवती काशी आई है। क्यों आई है? पाठक जानते हैं? पुण्य-सलिला गंगा में स्नान करने, अथवा बाबा विश्वनाथ का दर्शन करने—या धर्म-क्रय का पुण्य लूटने नहीं, जाति ने पतित करके नारी को त्याग दिया है, पिता-माता ने पुत्री को त्याग दिया है, भाई बहिन को त्यागने आया है! रोओ, सहृदय पाठक, रोओ!—न रो सको, तो अच्छा है, तुम्हारे हृदय की प्रशंसा होगी। तुम्हारे कोई विधवा बहन-बेटी है? यदि है, तो रोओ! तुम्हारे रोने से सम्भव है, अबला के हृदय की ज्वाला कुछ शमन होजाय।

तरण-तारणी काशी की मान्य-शोभा का कहाँ तक वर्णन् किया जाय? समस्त मन्दिर-देवालय विविध दीप-मालाओं से आलोकित होरहे हैं, और उनके प्रतिबिम्ब की माला को हृदय पर धारण करके भगवती गंगा अपनी तरंगों में मस्त चली जारही है, मन्दिरों के उच्च स्वर्ण-कलश, अट्टालिकाओं के धवल शिखर,

और वृक्षों की घनश्याम छटा,—ये सब काँपते-काँपते प्रतिबिम्ब-स्वरूप में मानों गंगा की स्वच्छता में अपना मुख देख रहे हैं। मन्दिर में आरती के वाद्यों की ध्वनि पूरित है, भागीरथी के तीर पर भक्त-जन स्तवन कर रहे हैं। इसी समय काशी की सड़कों पर एक गाड़ी में अभागिनी भगवती अपने अवशिष्ट जीवन को इस पुण्य-भूमि में शान्तिपूर्वक व्यतीत करने जारही है।

धीरे-धीरे यह गाड़ी वेश्याओं के मुहल्लों की तरफ़ मुड़ी, और आगे चलकर एक मकान के आगे ठहर गई। कोचवान ने पुकारकर कहा—"बाबू! आपने जिस मकान का पता दिया था, वही यह मकान है।"

हरनारायण गाड़ी से नीचे उतर आये। उन्होंने अकचका-कर देखा—यह मकान भी वेश्या का है। उन्होंने गाड़ीवान से पूछा—"दाल की मण्डी यही है न?"

"जी हाँ; और आपका बताया मकान भी यही है।"

हरनारायण कुछ पसो-पेश में पड़ गये, पर उन्हें अधिक देर इस अवस्था में न रहना पड़ा। मकान के भीतर से एक आदमी ने आकर पूछा—"आप किसे तलाश कर रहे हैं?"

हरनारायण ने झिझकते हुए आगे बढ़कर कहा—"इस मकान में जो रहती हैं, उनका क्या नाम है?—और वे कहाँ की रहनेवाली हैं?"

वह आदमी उत्तर नहीं देने पाया था, कि इतने में झमाछम करती हुई वेश्या सामने आ-खड़ी हुई। उसका विचार आगन्तुक से

कुछ प्रश्न करने का था, और आगन्तुक भी उसे देख, उसकी तरफ़ आकृष्ट हुआ। पर जब दोनों ने दोनों को पहचाना, तो प्रत्येक के लिये दोनों किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ होगये। वेश्या ने देखा —आगन्तुक कोई नहीं, उसके गाँव के पटवारी का लड़का हर-नारायण है, और आगन्तुक ने देखा—वेश्या का धृष्ट, निर्लज्ज और कलुषित बाना पहने हुए उनके गाँव के चौधरी की इकलौती विधवा पुत्री है, जिसके सम्बन्ध में आज पाँच वर्ष से प्रसिद्ध है, कि वह काशी-वास करके अपना परलोक सुधार रही है। उनके हृदय में विद्युत् की तरह यह भाव दौड़ गया, कि इसी प्रकार का काशी-वास कराने मैं बहन को लेकर आया हूँ? उनका सारा कर्त्तव्य-ज्ञान खोगया। वे टकटकी लगाये, वेश्या के मुख की ओर देखते रह गये।

पहले वेश्या ने मुख खोला। उसने कहा—"भीतर चले आओ; यहाँ खड़े रहना ठीक नहीं है।"

मन्त्र-मुग्ध की तरह हरनारायण भीतर चले आये। उनके पीछे भगवती भी थी। उसके संकोच, लज्जा, तथा ग्लानि का कोई क्या वर्णन् करेगा?

भीतर सब के बैठ जाने पर हरनारायण ने कहा—"चमेली, तेरी यह हालत?"

चमेली ने कुछ लरज़ती हुई ज़बान से कहा—"मेरी यह हालत किसने बनाई है?"

"किसने बनाई है?"

"तुमने और तुम्हारी जाति ने!"

कुछ ठहरकर हरनारायण ने कहा—"तुमने अपनी जाति भी छोड़ दी है?"

"उस बेरहम, नाचीज़, कमीनी जाति को छोड़े बिना कोई कैसे ज़िन्दा रह सकता है?"

हरनारायण ने देखा—पद-पद पर चमेली की उत्तेजना बढ़ती जारही है, और स्त्री-सुलभ लज्जा, नम्रता और शीलता का मानों उसमें लेश भी नहीं है।

हरनारायण ने ठण्डी साँस लेकर दुःख-भरे शब्दों में कहा—"तुम्हारे सम्बन्ध में सारे गाँव में यही विश्वास है, कि तुम धर्म-पूर्वक काशी-वास कर रही हो, और हर महीने तुम्हारे पिता तुम्हारे लिये खर्च भी भेजते हैं। पर यह तो मुझे विश्वास भी नहीं था, कि तुम इस प्रकार पापों का टोकरा बटोर रही हो, और यों इस धर्म-क्षेत्र में दोनों लोक नष्ट कर रही हो। अभा-गिनी, तुमने अपने कुल-शील का कुछ भी ध्यान न किया?"

हरनारायण की इस बात से मानों उसके भी हृदय पर प्रभाव पड़ा। हरनारायण ने देखा, कि भ्रष्टा वेश्या के आँखों में आँसू भर आये। उसने कहना शुरू किया—"मुझे साढ़े चार वर्ष यहाँ आये होगये हैं। मैं न जन्म से ऐसी थी, न होने की आशा थी। तुम्हें तो मालूम ही है, मेरे बेईमान बाप ने उस मृगी के मरीज़ से ५५००) रुपये लेकर मेरा ब्याह कर दिया, और ब्याह के बाद ही छः महीने में मैं विधवा होगई। उसके बाद घर में और ससु-

राल में जैसे दुःख से तीन वर्ष काटे, उसे मैं ही जानती हूँ। अन्त में उन पाजी कमीनों से यह भी न देखा गया, और जैसी-तैसी तुहमत लगाकर मुझे बदनाम कर दिया। बिरादरीवालों की बात में आकर बाप ने मुझे यहाँ फेंक दिया, और पाँच रुपये महीना भेजना शुरू किया। उन्होंने समझा था, यही उनका मेरे प्रति यथेष्ट कर्तव्य था। पर तुम्हीं कहो, इतने बड़े नगर में इतने थोड़े ख़र्च में बिना सहायक अकेली रह सकती थी? तुम क्या समझते हो कि धर्म गली-गली भटकता फिर रहा है, जो हरकसो-नाकस के गले मँढ़ता जायगा? इन पापी, अधर्मी, काफ़िरों को अपनी बेटी को इस तरह मिट्टी में मिलाते कुछ भी शरम न आई? उन-का कलेजा तनिक भी न लज्जा? जब मेरा बाप मुझे यहाँ छोड़ने आया, तब हा-हाकार विलाप सुनकर उसका कलेजा पिघला? मैंने उस नामुराद के नापाक पैरों में पड़कर कहा—'मुझे यहाँ कहाँ इस इतने बड़े शहर में छोड़े जाता है?' तब जानते हो, उसने क्या जवाब दिया? उसने कहा था—'जब तैंने धर्म नष्ट किया, तब इन बातों को नहीं सोचा था।' उस दोज़ख़ी कुत्ते ने अपनी मासूम बेटी को मुर्दे के हाथ बेंच डाला—उसका कोई धर्म नहीं बिगड़ा। उन पाजी पञ्चों ने बेगुनाह मुझे कसब कमाने यहाँ भिजवा दिया, उनका धर्म नहीं बिगड़ा। इस नाचीज़, 'घिनौने' मुर्दे धर्म पर तुफ़ है—लानत है! मैं इस पर थूकती हूँ। अब जाकर उन धर्म-धुरियों से कह देना, तुम्हारी बेटी मुसलमान होगई है, और पेशा कमाती है।"

बात कहते-कहते चमेली अत्यन्त उत्तेजित होगई थी। हरनारायण उसके इस अनुचित गर्म भाषण को न सुन सके। उन्होंने कहा—"चमेली, समझ गया। तुम्हें बड़ा दुख दिया गया है, और तुम पर ज़ुल्म भी हुआ है, पर तुम्हें इतनी ज़बान-दराज़ी नहीं करनी चाहिए। कहाँ तुम अपने पाप पर लज्जित होतीं, और कहाँ ऐसी गन्दी बातें बकती हो……"चमेली ने बीच में ही बात काटकर कहा—"मेरा पाप? मैं कौन-सा पाप कर रही हूँ? और अगर यह पाप ही है, तो तुम पर और तुम्हारी जाति पर इसका क़हर पड़ेगा। मैं जैसी नर्क की आग छाती में रखकर पाप करती हूँ, उसे तुम पाखण्डी मर्द क्या समझ सकते हो? भगवान् तुम्हें कभी लड़की का जन्म दे, और मेरी-सी दुर्गति बनावे, तो तुम मुझसे भी नीचे गिर जाओगे।" चमेली आगे कह ही रही थी, कि भगवती से न रहा गया। उसने कहा—"भाई! चलो, यहाँ से जल्दी चलो, नहीं मेरा प्राण निकल जायगा।"

चमेली ने उसकी तरफ़ ताने की नज़र से देखकर कहा—"कहाँ चलीं बहन? तुम जिस लिये आई हो मैं समझ गई। वही करने की तैयारी करो। ये तुम्हारे धर्मात्मा भाई तुम्हें पूरी मदद देने आये ही हैं। कलेजा पत्थर का करो। उसमें आग सुलगाओ, पर धुँआ अन्दर-ही-अन्दर घुटने दो। बाहर छल-कपट से हँसना, और झूठी बात बनाना सीखो। दग़ा-फ़रेब-बेईमानी-सख़्ती—इन सब से काम लो। आओ, और मेरे घर में

चैन करो। कुछ तुम्हारा और मेरा ही यह नया मार्ग नहीं है, इस मोहल्ले में कई मुझ-सी तुम-सी हैं। कहोगी, तो उनसे मुलाक़ात करा दूँगी। कभी उनकी सुनकर रोना, कभी अपनी सुनाकर रुलाना। पर वक्त्-बे-वक्त् हँसने को सदा तैयार रहना।" हरनारायण का दम मानो घुटने लगा था। उसके मुँह से एक शब्द न निकला। वे उठ खड़े हुये, और बोले--"भगवती! चल, जल्दी चल!" चमेली के हृदय में न-जाने क्या-क्या भाव उत्पन्न हो रहे थे। जो स्त्री अब तक ऐसी तेज़ी से बोल रही थी, अब वह एक-दम रो पड़ी। वह कुछ कहना चाहती थी, पर कह न सकी। दोनों आगन्तुक जल्दी से बाहर निकल आये।

उनचासवाँ परिच्छेद

और कुछ उपाय न देख, दोनों ने उस रात धर्मशाला में डेरा किया। प्रभात होते-ही हरनारायण ने कहा—"भगवती, चल गंगा-स्नान कर आवें।"

भगवती चुपचाप बैठी रही। हरनारायण ने पुनः वही प्रस्ताव किया। भगवती ने धीरे-से कहा—"तुम गंगा में नहाकर पवित्र हो आओ, मेरा क्या गंगा-स्नान है—मुझे तुम्हारी गंगा-वंगा नहीं चाहिए।"

हरनारायण चुपचाप मुँह लटकाकर बैठ गया। तब कुछ

ठहरकर उसने कहा—"तो तेरा क्या विचार है ?"

"कुछ नहीं।"

"तू यहाँ रहना चाहती है, या नहीं ?"

"तुम क्या मुझसे पूछकर-ही यहाँ रखने लाए हो ?"

"और, अब क्या विचार है ?"

"मेरी जो इच्छा होगी, वह करूँगी, तुम अपनी मनमानी करो। मुझे अब भी भगवान् का आसरा है। आख़िर इतने पापी हैं, इन्हें भी तो किसी का आसरा है-ही।"

हरनारायण विचार में पड़ गये। वे नेत्र मूँदकर अपनी स्थिति पर विचार करने लगे। धीरे-धीरे वे अपनी बहन की स्थिति और भविष्य को देखने लगे। वे ज्यों-ज्यों विचार-मग्न होते गये, त्यों-त्यों उनका गम्भीर चेहरा विषाद-मग्न होता गया। उन्हें एक-एक करके अपने बचपन के दिन याद आने लगे। उनके नेत्रों में एक के बाद एक, वे बाल्य-काल के दृश्य आ-आकर नाचने लगे। वह आम के बाग़ में कैरी तोड़ना, वह भाई-बहन की नैसर्गिक बाल-लीला, मानों प्रत्यक्ष दीखने लगी। वह बालू का घर, गुड़ियों का खेल, नाराज़ी, मचलना, माता का प्यार, छोटी-छोटी खाने की वस्तुओं का बाँटना, झगड़ना-आदि बीस-बीस वर्ष के पुराने दिन प्रत्यक्ष दीखने लगे। उन्होंने नेत्र खोलकर देखा—वही उनकी दुलारी बहन नीची गर्दन किये, अपने उस बे-ओर-छोर के अन्धकारमय भविष्य को विचार रही है—जो उसके निर्बल और असहाय तन मन पर आ-पड़ा है। उनके मुख से एक दीर्घ निःश्वास

निकल गया, और साथ-ही आँसुओं की अविरल धारा बह निकली। अन्त में गद्‌गद् कण्ठ से उन्होंने कहा—"भगवती! अब अधिक सोचा-विचारी की ज़रूरत नहीं है। चलो, घर चलें। अभी चलो। जो हुआ, सो हुआ।"

भगवती ने उनकी ओर बिना देखे-ही कहा—"किसके घर की बात कहते हो? जिसका घर हो, वह जावे, मेरा तो घर अब मैं ढूँढूँगी। कहीं मिला, तो ख़ैर, वरना एक बार भगवान् के घर को टटोलूँगी, कि वहाँ जगह मिलती है, या नहीं।"

हरनारायण ने रोते-रोते कहा—"हम लोग गाँव में न जावेंगे। चलो, शहर में चलकर रहेंगे। मुझे जाति-बिरादरी की परवाह नहीं है। तुमने बड़ा दुःख पाया है। बहन! चलो, तुम्हारी भाभी से कह दूँगा, कि वह तुम्हीं को मालिक बना दे। अब ज़्यादा कुछ कहो-सुनो मत।"

भगवती ने भाई का गद्‌गद्-कण्ठ सुनकर एक बार उसकी ओर देखा। फिर वह भी रो उठी। बड़ी देर बाद उसने कहा—"मैं न जाऊँगी, तुम लौट जाओ।"

"तू न जायगी, तो मैं यहीं मर जाऊँगा, अब मुझ में अधिक दम नहीं है।" इतना कहकर वे मुँह ढाँपकर रोने लगे।

भगवती चुप बैठी रही।

हरनारायण ने कहा—"चुप क्यों है? यहाँ अधिक ठहरना ठीक नहीं।"

भगवती ने कहा—"भाई, अब जब साफ़ हो ही गया है,

तो लज्जा किस बात की है? अब मेरा वहाँ न जाना ही अच्छा है। इसी में तुम लोगों का कल्याण है। गृहस्थी आदमी बिना बिरादरी नहीं जी सकता। पागलपन मत करो। मेरा जो-कुछ होगना, वह होगया। अपना रास्ता मैंने सोच लिया है—मैं यहाँ से न जाऊँगी।"

"तब तू यहाँ करेगी क्या?"

भगवती ने फीकी हँसी हँसकर कहा—"विश्वास रखो, अब पाप न करूँगी……।"

उसकी बात काटकर हरनारायण ने कहा—"नहीं, मैं तुझे न छोड़ूँगा।"

"पर मैं तुम्हारे घर नहीं रह सकती, उसमें मेरा-तुम्हारा दोनों का भला नहीं है। तुम जिस ज़िम्मेदारी पर यहाँ आये हो, उसे सोचो।"

कुछ विचारकर हरनारायण ने कहा—"अच्छा, एक बात है। क्या गोविन्दसहाय ब्याह करने को राज़ी हैं?"

भगवती ने दुखी होकर कहा—"इस बात को अब न छेड़ो। वह समय गया। अब जो मैं चाहती हूँ, वही होने दो। मेरा अन्त ही ठीक है!"

"अन्त? क्या तुम आत्मघात करोगी?"

"तो क्या और कुछ भी हो सकता है? तुम घर जाओ, मैं अपना मार्ग निकाल लूँगी। पर भैया! मेरे अपराध क्षमा करना, और नरो को सुखी रखना।" इतना कह, वह फूट-फूटकर रोने लगी।

हरनारायण ने उसका सिर गोद में लेकर कहा—"मरें तुम्हारे दुश्मन! बहन, तू न जायगी, तो मैं भी न जाऊँगा। तू मरेगी, तो मैं भी यहीं मरूँगा। मेरे बाद माता, पिता, नरो और तेरी भाभी का नम्बर है। सभी मरेंगे।"

भगवती ने धैर्य के स्वर में कहा—"नहीं। तुम सौ-सौ वर्ष जीओ। घर लौट जाओ। पर किसी से मेरी बात न कहना।"

"नहीं, तुम्हें बिना लिये न जाऊँगा।"

"पर मैं घर न जाऊँगी—किसी तरह न जाऊँगी। इसमें कहना व्यर्थ है।"

"तब ऐसा करो, तुम गोविन्दसहाय के घर चली जाओ।"

भगवती ने झुँझलाकर कहा—"जो बात एक बार हो चुकी, उसे क्यों बार-बार कहते हो?"

"तब निश्चय मुझे यहीं रहना है। भगवान् की मरज़ी।"

भगवती और हरनारायण में बड़ा विवाद चला, पर निश्चय कुछ नहीं हुआ। भगवती न भाई को विदा कर सकी, न स्वयं जाने को राजी हुई।

तीन दिन बीत गये। न गङ्गा-स्नान हुआ, न भोजन, न बात-चीत। दोनों चुपचाप पड़े हैं। अन्त में भगवती ने भाई का हाथ प्यार से पकड़कर कहा—"भैया! किरपू और सुखिया कैसे कलती होंगी? तुम घर जाओ, दुखिया को मरने दो। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ।" इतना कहकर भगवती ने अत्यन्त करुण दृष्टि से भाई को देखा।

हरनारायण कुछ न बोलकर चुपचाप पड़े रहे। कुछ ठहरकर भगवती ने कहा—"अच्छा, एक शर्त पर चलती हूँ। अपने घर तो किसी तरह न जाऊँगी, पर वहाँ चली जाती हूँ। अगर उन्होंने व्याह करना स्वीकार कर लिया, तो ख़ैर, वरना फिर यहीं आकर मरूँगी।"

हरनारायण ने रोते-रोते कहा—"अच्छा, यही सही।" दोनों तैयार होने लगे। भाई ने कहा—"बहन! आओ, एक बार गङ्गा तो नहा लें!" भगवती ने कुछ विरोध न किया। दोनों स्नान कर स्टेशन चल दिये। देव-दर्शन और भोजन का किसी को स्मरण न रहा, और न इच्छा।

पचासवाँ परिच्छेद

रेलगाड़ी जा रही थी। पल-पल में भगवती का स्टेशन निकट आ रहा था। भगवती मन-ही-मन सूरज छिपने की प्रार्थना कर रही थी। सूरज छिप रहा था, और अन्धकार फैल रहा था—ऐसे-ही समय में भगवती भाई के साथ गाड़ी से उतर पड़ी।

अब तक उसके मन में साहस था, विचार था, भय था, और चिन्ता थी। पर स्टेशन पर पैर रखते-ही उसका शरीर सनसनाने लगा। सिर घूमने लगा। यही उसका गाँव है। उसी गाँव में उसका घर—जन्म-स्थान—क्रीड़ा-क्षेत्र है। अभी उस दिन

वह गाँव से बलात्कार करके हटाई गई थी। तब जाती बार गाड़ी से मुँह निकालकर, आँसू भरकर उसने एक बार अपने गाँव को, उसके बीच में चमकते हुये, अपने घर की सफ़ेद अटारी को देखा था—हसरत की और चाह की नज़रों से। उसकी धारणा थी, कि अब क्या इस जन्म में ये भाई-बन्धु, घर-गाँव मिलेंगे?—कभी न मिलेंगे। वह सारे मार्ग रोती गई थी, पर विधि की विडम्बना देखिये—घूम-फिरकर वह फिर उसी गाँव में आगई; फिर उसी गाँव का छोटा-सा स्टेशन उसे प्राप्त हुआ। पर वह काँपती क्यों है? इस परिचित स्थान में उसके पैर लड़खड़ाते क्यों है? यहाँ तो वह कई बार गाड़ी से उतरी थी। एक बार जब ब्याह के बाद ससुराल से आई थी, तब भाई के साथ कैसी हौंस से उतरी थी। धमककर पैर पड़ते थे! जल्दी घर जाकर प्यारी सखी चम्पा को देखने को, उसे कुछ आप-बीती सुनाने को पेट फूल रहा था। फिर एक बार अपने पति के साथ गौने के बाद आई थी। उसके बाद?—उसके बाद-ही से उसका कर्म फूट गया; उसका सौभाग्य डूब गया; सतीत्व लुट गया; श्री नष्ट होगई; मान, सम्मान, गौरव सब ठिकाने लग गये थे। कहाँ रही वह धमक की चाल, वह कुलकुलाहट, उतावलापन, और चञ्चलता? कहाँ रही वह वाचा-लता? कहाँ रही वह घर जाने की उमङ्ग? जहाँ से अत्यन्त अपमा-नित होकर निकाली गई थी,—जहाँ एक पल रहना भी कष्टकर था,—क्या यह वही घर है? वहाँ जाने को उसे उतावली होगी? एक दिन था, जब उसकी अवाई सुनकर घर-द्वार लिपा था।

कहारी मंगल-कलश लिये द्वार पर खड़ी थी, माँ आरती सजाये खड़ी स्त्री-मण्डल से कह रही थी—'मेरी मन्नो ससुराल से आती है, न-जाने कितनी हार गई होगी? मेरी चिड़िया के दिन पराये घर जाने कैसे कटे होंगे?' उस समय मुस्कराते हुए, छमा-छम पैर चलाते हुए इसी भगवती ने घर में प्रवेश किया था। किसी ने पुचकारा था, किसी ने गोद में लिया था, किसी ने सिर पर हाथ फेरा था, किसी ने वस्त्र, किसी ने आभूषण हाथ में ले-लेकर टटोलकर देखा और सराहा था, किसी ने मंगल गाये थे। माता दौड़कर जल-पान को मिठाई ले आई थी, भाभी जल्दी-जल्दी पूड़ियाँ उतार रही थी, नारायणी झपटकर पीढ़ा ले आई थी, नाइन पंखा लेकर खड़ी होगई थी।

पाठक! ऐसे ही चोचले हुए थे। वे दिन आज भी भगवती भूली नहीं है। पर आज तो दिन ही और हैं। वे दिन और थे—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीत बहार।
अब अलि! रही गुलाब में अपत कटीली डार॥

अस्तु, अब भगवती सब तरफ़ से सिमिट-सिमटाकर नीचा मुख किये एक ओर खड़ी होगई। असबाब उतारकर हरनारायण ने कहा—"चल भगवती, अब चलें।"

भगवती चुपचाप पीछे-पीछे चल दी। स्टेशन से बाहर आकर उसने कहा—"भाई, अब तुम घर जाओ। यहाँ से मेरा रास्ता और है, तुम्हारा और! मेरी ओर से सब से हाथ जोड़कर क्षमा माँगना।"

हरनारायण कुछ देर तक उसकी ओर अनुनय की दृष्टि से देखते रहे। उन्होंने उसे बहुत-कुछ समझाया, पर उसने एक न सुनी। वह उस अन्धकार में अपने को छिपाती हुई, बिना प्रतीक्षा किये हरगोविन्द के घर की ओर चल खड़ी हुई।

एक बार तो हरनारायण ने लपककर बहन को रोकना चाहा, पर ऐसा न कर सके। वे उस अनाथ, निराश्रय, दलित अबला की दशा देखकर वहीं बैठ, फूट-फूटकर रोने लगे। जब रोने से कुछ जी हलका हुआ, तो धीरे-धीरे घर को चले। मानों कोई जन्म-भर की कमाई लुटाकर चला हो। इस समय अँधेरा ख़ूब होरहा था। गाँव का मार्ग निर्जन था। घर में भी अन्धकार और सन्नाटा था। हरनारायण घर में घुस, चुपचाप अपनी कोठरी में पड़ रहे। आज उन्हें प्रतीत हुआ, कि भगवती निरपराध है, और वे स्वयं कितने अपराधी हैं।

इक्यावनवाँ परिच्छेद

हरगोविन्द इधर-उधर भटककर घर में आ, और खा-पीकर लेटे ही थे, कि उन्हें द्वार की खटखटाहट मालूम हुई। उन्होंने पुकारकर पूछा—"कौन?"

उत्तर न मिला। कुछ ठहरकर फिर खटका हुआ। अब वे द्वार खोलने चले। देखा—श्वेत वस्त्र में सर्वाङ्ग ढाँपे कोई खड़ा है। उन्होंने कुछ भीत स्वर में पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ भगवती।" उसने भीतर घुसते-घुसते कहा।

हरगोविन्द ने अकचकाकर कहा—"एँ भगवती?"

भगवती को और कुछ कहना न पड़ा। घर के प्रकाश में वह उसका पीला, सूखा और भयंकर मुँह, बिखरे, मैले बाल और मलिन वेश देखकर स्तम्भित रह गया।

भगवती चुपचाप खड़ी उसे ताकती रही। हरगोविन्द ने ज़रा भयभीत स्वर में कहा—"आख़िर इस वेश का मतलब क्या है? और इस समय कहाँ से आरही हो?"

भगवती का कण्ठ, तालू, जीभ सब सूख रहे थे। कठिनता से उन्हें तर करके संक्षेप से कहा—"काशी से।"

अब और भी अकचकाकर हरगोविन्द ने पूछा—"काशी से? सीधी काशी से?"

"हाँ।"

हरगोविन्द और कुछ न पूछ सका। वह चुपचाप खड़ा, भगवती का मुँह ताकता रहा।

अब भगवती का जी कुछ ठिकाने आगया था। उसने कहा—"हाँ, मैं काशी से ही आई हूँ, और तुम्हारे लिये आई हूँ। आओ, अब हम लोग इस निर्दयी दुनियाँ से कहीं अलग चलकर रहेंगे।"

इतना कहकर वह उस युवक का हाथ पकड़ने को लपकी। परन्तु जैसे कोई भूत के छूने से डरता है, उसी प्रकार पीछे हट-कर हरगोविन्द ने कहा—"ज़रा ठहरो तो, तुम अपना मतलब साफ़-साफ़ तो बयान करो।"

भगवती ने अपनी थर्राई और गढ़े में धँसी हुई आँखों को युवक के मुँह पर गाड़कर कहा—"मतलब तुम नहीं समझे ? मैं काशी डूबने गई थी, पर फिर सोचा कि अभी और कुछ दिन जी लूँ, फिर मरना तो कहीं गया नहीं है—जीना क्या बार-बार मिलता है ? सो इस जीने के लालच से तुम्हारे पास आई हूँ। क्योंकि अब सिवाय तुम्हारे और कहीं मेरा जीने का ठिकाना नहीं है। तुमने कई बार कहा था, कि पुनर्विवाह करलें। चलो, मैं इसके लिये तैयार हूँ। पर ऐसी जगह चलो, जहाँ कोई न देख सके; पंछी भी न देख सकें—बस, हम ही दोनों रहें।"

इतना कहकर भगवती हाँफने लगी, और उसकी आँखों से टपाटप आँसू टपकने लगे।

पर हरगोविन्द ने उधर नहीं देखा। वह एकदम कानों पर हाथ धर गया। उसने ज़रा धमकती आवाज़ से कहा—"ना, ना, यह कभी नहीं होने का ! बहुत होचुका। तुम्हारे पीछे बहुतेरी बदनामी और बे-इज़्ज़ती कमा ली। बस, अब तुम मुझे बख़्शो, और तुम इस तरह वक़्त-बे-वक़्त कभी मेरे घर मत आया करो। मुझे इस इल्लत की मालूम होती, तो कभी ऐसा काम नहीं करता। जो होगया है, वही बहुत है।"

पाठक ! इस चोट को समझे ? कितने दिन की भूखी-प्यासी लड़की, आत्म-हत्या करने पर उतारू, असहाय अवस्था में जिस कच्चे धागे के सहारे आस लगाये इतनी दूर से दौड़ी आई थी, वह इस तरह दग़ा देगया; वह एकदम टूट गया !

भगवती की आँखों में अँधेरा छा-गया। क्षण-भर के लिये उसके शरीर के ख़ून की गति रुक गई, सिर चकराने लगा। उसने भर्राए और टूटे स्वर में कहा—"क्या कहा?"

हरगोविन्द ने कुछ झिझककर और कुछ उकताहट से कहा—"बस, कहना-सुनना यही है, अब तुम यहाँ से चली जाओ। कोई आकर देख लेगा।"

भगवती ने दृढ़ता से कहा—"देख लेगा, तो क्या है? आवे; देख ले।" हरगोविन्द कुछ क्रोध से बोला—"हाँ, तुम्हारे लिये तो कुछ नहीं है, पर मुझे तो लज्जित होना पड़ेगा।"

भगवती के शरीर में सनसनी दौड़ गयी। उसकी गर्मी बढ़ने लगी, और उसने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"तुम्हें?"

हरगोविन्द कुछ तेज़ होकर बोला—"हाँ, मुझे।"

अब भगवती का चेहरा कुछ भयंकर होने लगा। उसने ज़रा ऊँचे स्वर से कहा—"तुम्हें इतनी लज्जा है? पर जानते हो, मेरी लज्जा कहाँ जा डूबी है?"

हरगोविन्द ने झिड़ककर कहा—"रात के वक़्त यह बकवाद बिल्कुल वाहियात है। निकलो घर से बाहर! मैं तुम्हारी बात किसी तरह नहीं मान सकता।"

इतना कह, वह द्वार की तरफ़ बढ़ा। भगवती ने होठ काटकर कहा—"मैं निकलूँ, और तू?—तू यहीं रहेगा?"

हरगोविन्द ने जामे से बाहर होकर कहा—"तू-तू क्या बकती है, चुड़ैल! निकल इधर को।"

इतना कह, उसने एक धक्का भगवती को दिया। धक्का खाकर भगवती गिरी नहीं, डरी भी नहीं। वह भयङ्कर रूप से दाँत किटकिटाकर हरगोविन्द पर झपटी, और उसने उसका गला ऐसे ज़ोर से दबा लिया, कि वह गिरकर छटपटाने लगा। भगवती उसके ऊपर चढ़ बैठी। उसकी आँखें निकल आयीं, जीभ निकल पड़ी। इसके अनन्तर उस चण्डिका ने उसके कपड़ों को फाड़ना और जगह-जगह दाँत से काटना शुरू कर दिया। वह अभागा पापी पाप के हथियार से पाप का दण्ड पाकर तड़पने लगा। छूटने की बहुत कोशिश की, पर नाहरी से पार न पा-सका। अन्त में बे-दम होकर पड़ा रहा। अब भीमाकृति चण्डिका उसके ऊपर से उतरी। अब भी ख़ून उसके सिर चढ़ रहा था, वह बड़बड़ाती इधर-से-उधर पैर पटककर घर में फिरने लगी। पर क्रोध की मात्रा कम न हुई। वह दाँत कटकटाकर दोनों हाथ भींच-भींचकर कुत्सित गालियाँ बकने लगी। तब भी शान्त न हुई। वह फिर भभकी। अब की बार लैम्प उसके हाथ में आ-गया, उसे उसने लपककर उठा लिया, और एक बार तोलकर इस ज़ोर से अशक्त हरगोविन्द के ऊपर दे मारा, कि वह एकदम 'हाय' कर उठा। चिमनी टूट गई, तेल बिखर गया, आग लग गयी। अब हत्यारी, राक्षसी अपने यथार्थ वेश में घर से बाहर निकलकर अन्धकार में लीन होगयी। इसके थोड़ी ही देर में गाँववालों ने कोलाहल सुन, और जागकर देखा—हरगोविन्द का घर धाँय-धाँय जल रहा है।

बावनवाँ परिच्छेद

——:oo:——

श्यामा बाबू काशी में कलक्टर होकर आये हैं। वे नवयुवक, भावुक और इन्साफ़-पसन्द हाकिम प्रसिद्ध हैं। सभी उनकी तत्परता और न्याय की प्रशंसा करते हैं। उनके इजलास में एक मुक़दमा दरपेश है। मिसल पेशकार ने सामने रखकर चपरासी को आवाज़ लगाने का हुक्म दिया। चपरासी ने हाँक लगाई—"मुसम्मात बसन्ती उर्फ़ आलीजान हाज़िर······"

एक घृणित स्त्री फटे-पुराने वस्त्र पहने—शरीर-भर में जिसके घाव होरहे थे—नाक पर पट्टी बँध रही थी, बाल सूखे और बिखर रहे थे। पुलिस ने कटघरे में ला-हाज़िर की। पेशकार ने ज़बान-बन्दी लेना शुरू किया। मैजिस्ट्रेट ने पूछा—"इस पर क्या मुक़दमा है?"

"हुज़ूर, यह गली-मुहल्लों में बुरे मतलब के लिये लड़कियाँ चुराती है। इसी जुर्म में इसे दो बार प्रथम भी सज़ा होचुकी है।"

इसके बाद गवाह पेश हुए। मुक़दमा साबित हुआ। मैजिस्ट्रेट ने पूछा—"तुम्हें कुछ कहना है?"

"जो पूछो, वह कहूँगी।"

"तुम यह बुरा काम क्यों करती हो?"

"इसी से मेरी गुज़र होती है।"

"तुम और कुछ काम नहीं कर सकतीं ?"

"मैं क़लम कमाती थी, पर अब मुझे कोई धेले को नहीं पूछता।"

मैजिस्ट्रेट ने मन की घृणा रोककर कहा—"तुम कोई मज़-दूरी कर सकती हो ?"

"मज़दूरी की अच्छी कही। मेरी उँगलियाँ ही गल गई हैं, मुझसे मज़दूरी हो सकती है ?"

"तुम अपाहिज-घर में दाख़िल हो सकती हो ?"

"कुत्तों की भाँति सड़ा-गला अन्न खाने को ? ऐसी मेरी आदत नहीं। दो रुपये रोज़ तो मेरा शराब का ख़र्च है जनाब ! एक समय था, जब आप-जैसे मेरे तलुवे चाटा करते थे; पर अब तो वक़्त ही बदल गया !"

श्यामा बाबू ने विरक्त होकर कहा—"तुम्हें और कुछ अपने बचाव में कहना है ?"

"कुछ नहीं।"

"मैं तुम्हें दो वर्ष सख़्त क़ैद की सज़ा देता हूँ।"

"अच्छी बात है। पर यह लिख देना, कि मुझे अस्पताल में रख दिया जाय। वहाँ ज़रा खाना अच्छा मिल जाता है, और काम भी कुछ नहीं करना पड़ता......।"

श्यामा बाबू ने पुलिस को उसके हटाने का संकेत किया, और दूसरी मिसल उठाई।

वे सोच रहे थे—हाय ! स्त्री-जाति का यहाँ तक पतन हो

सकता है, यह तो मैंने कभी सोचा ही न था। न-जाने कितनी स्त्रियाँ इस प्रकार नष्ट होरही हैं, और अवश्य ही यह इसकी अपराधभागिनी नहीं। जिस समाज ने इन्हें पैदा करके यहाँ-तक गिरने में सहायता दी है, प्रकृत अपराधी तो वह समाज है।

इस दोष का निराकरण क्या क़ानून करेगा—जिसमें सिर्फ़ नियन्त्रण है? क्या दण्ड से ऐसी पतित आत्माओं का सुधार हो सकता है? हाय, कैसे शोक की बात है! हिन्दू-जाति का बेड़ा इसी प्रकार ग़र्क़ होरहा है! हिन्दू-जाति अपनी बहन-बेटियों के लिये जब तक इस क़दर बेख़बर रहेगी, उसकी दशा का सुधार नहीं होगा। स्त्री-जाति की यह दुरवस्था किसी भी जाति की छाती में भयानक क्षय की बीमारी है।

इसके बाद ही मालती का मुक़द्दमा उनके इजलास में पेश हुआ। मालती ने संक्षेप से सब हालात अदालत में बयान कर दिये। अन्य स्त्रियों के भी बयान लिये गये। पुलिस के सब गवाह ख़तम होने पर अधिष्ठाताजी पर फ़र्द जुर्म लगायी गई, और वे ज़मानत पर छोड़ दिये गये। मालती तथा अन्य स्त्रियों पर स्वेच्छानुसार जी-चाहे-जहाँ चले जाने को कहा गया। सब चली गईं। पर मालती खड़ी रही।

मैजिस्ट्रेट ने कहा—"अब तुम क्या चाहती हो?"

"मुझे सुरक्षा से मेरे घर भेज दिया जाय।"

"यह काम कौन करेगा? क़ानून तो अपना काम कर चुका।

एक मोटे-से इन्स्पेक्टर साहब पिस्तौल ताने कमरे में घुस आये। उन्होंने वहाँ से चिल्लाकर कहा—"खूनी खबरदार!" (पृष्ठ २०७)

यदि तुम्हारी बात सत्य हुई, तो अपराधी दण्ड पावेंगे। क़ानून ने तुम्हें स्वतन्त्र कर दिया।"

"परन्तु समाज ने तो नहीं। मैं कहीं भी जाना निरापद नहीं समझती। ज़्यादा-से-ज़्यादा निरापद स्थान मेरे लिये यही अदालत का कमरा है। मैं अन्ततः यहीं रहूँगी।"

"ऐसा तो नहीं हो सकता।"

"तब क्या हो सकता है?"

मैजिस्ट्रेट विचार में पड़ गये। उन्होंने कहा—"मैं अपनी तरफ़ से तुम्हारे पिता को तार दे सकता हूँ। तुम चाहो, तो तब तक मेरी स्त्री की संरक्षकता में रह सकती हो।"

"यह मुझे स्वीकार है।"

तब मैजिस्ट्रेट साहब ने उसे बँगले पर भिजवा दिया। इसके साथ ही उन्होंने उसके पिता को तार भी दे दिया।

शाम को मैजिस्ट्रेट साहब इजलास से लौटे। उन्हें तार का जवाब मिल चुका था, और उसे पढ़कर वे दुःखित तथा चिन्तित होगये थे। वे नहीं समझ सकते थे, कि मालती-जैसी साहसी लड़की को क्या जवाब दें; और किस भाँति उसका कोई प्रबन्ध करें।

मालती ने नहा-धोकर कुछ खा लिया था। वह शान्त थी, पर बहुत क्लान्त थी। उसने मैजिस्ट्रेट साहब के घर आते ही पूछा—"क्या तार का जवाब आया?"

"आया तो।" उन्होंने तार उसे दे दिया। उसमें लिखा

था—उसे हम घर नहीं रख सकते, जातीय मर्यादा बाधक है। खर्च भेजते हैं, अच्छा प्रबन्ध कर दें।

मालती ने रोना चाहा, पर रो न सकी। श्यामा बाबू भी कुछ न बोल सके। मालती ने स्वयं कहा—"अब आपने क्या विचारा है?"

"मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ, कहो!"

"मैं उत्तम रसोई बनाना जानती हूँ, आप मुझे यह जगह दे दीजिये। मैं सिर्फ़ भोजन और रक्षा चाहती हूँ। शीघ्र ही मैं अपने विषय में निश्चय कर लूँगी। तब आप पर भार न रहेगा।"

श्यामा बाबू की आँखों में आँसू भर आये। उन्होंने कहा—"मालती, तुम्हें नौकर की भाँति रखने की तो मेरी इच्छा नहीं है, हाँ, बहिन की भाँति जब तक रहो—यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं। परन्तु भविष्य के विषय में तुम्हें बहुत-कुछ सोचना होगा।"

मालती की आँखों से आँसू झर-झर गिरने लगे। उसने कहा—"आप पर मैं विश्वास करती हूँ। आपने इस दुखिया को बड़े आड़े समय में आश्रय दिया है, ईश्वर आपका भला करेगा।" इतना कहकर मालती वहाँ से घर के भीतर चली गई।

तिरपनवाँ परिच्छेद

—:o:—

रायबहादुर महाशय के प्रशस्त बँगले पर बड़ी चहल-पहल है। सैकड़ों आदमी दौड़-धूप करते फिर रहे हैं। रायबहादुर

साहेब एक आरामकुर्सी पर पड़े, सब प्रबन्ध की देख-भाल कर रहे हैं। प्रकाश को पलक-मारने की फुर्सत नहीं। वह इधर-से-उधर, उधर-से-इधर दौड़े फिर रहे हैं। बँगला बिजली की रोशनी और असंख्य रंग-बिरंगी झण्डियों से जगमग हो रहा है। द्वार पर शहनाई बज रही है। एक व्यक्ति ने रायबहादुर महाशय के पास आकर कहा—

"बारात आपहुँची—सब को यथा-स्थान ठहरा दिया है। भोजन भी पहुँच गया है, अब क्या आज्ञा है?"

"पलँग, मेज़, कुर्सी, फल, नौकर सभी तो ठीक-ठीक होगये न?"

"एकदम सब प्रबन्ध ठीक-ठीक होगया।"

"बारात की चढ़त कब होगी?"

"९ बजे चढ़त का समय रखा है। पुलिस-कमिश्नर स्वयं ४० घुड़सवारों-सहित चढ़त में साथ रहेंगे।"

"और क्या-क्या सवारियाँ ठीक की गई हैं?"

"४ हाथी, २० घोड़े, ६ मियाने, ५० बग्घी-टमटम।"

"बाजे का क्या रहा?"

"फ़ौजी बाजा आरहा है। बारात के साथ भी बाजा है।"

"बहुत ठीक! अब आप ज़रा उधर फिर चले जाइये, और सब प्रबन्ध उन्हें समझाकर उनकी और क्या आज्ञा है, यह पूछते आइये। और उसी के अनुकूल प्रबन्ध भी कर दीजिये। जाइये—मोटर लेजाइये; मैं इस तरफ़ से निश्चिन्त रहा।"

'बहुत अच्छा' कहकर वे सज्जन विदा हुये।

रायबहादुर ने प्रकाश को बुलाकर कहा—

"विवाह-वेदी का सब बन्दोबस्त तो ठीक है?"

"जी हाँ, सब ठीक है। १२ पण्डित विवाह-वेदी पर वेद-पाठ करने को आजायँगे। पाठशाला के सभी विद्यार्थी साम-गान करेंगे। दो हज़ार स्त्री-पुरुषों के बैठने का प्रबन्ध है। वेदी की सभी कार्य-वाही सभी देख सकेंगे।"

"निमन्त्रण सब जगह पहुँचा दिया गया न?"

"जी हाँ, सब जगह पहुँच गया। ख़ास-ख़ास जगह मैं स्वयं हो-आया हूँ।"

"स्वामीजी महाराज कब तक आ पहुँचेंगे?"

"उनका तार मिल गया है। वे ४ बजे आपहुँचेंगे।"

"पुरोहित का स्थान तो वे ही ग्रहण करेंगे न?"

"वे और महात्मा देशराजजी।"

रायबहादुर सन्तुष्ट होकर कुर्सी पर लुढ़क गये। फिर बोले—"अच्छा बेटे, ज़रा तुम स्वयं एक बार जनवाँसे में चले जाओ, देखो, किसी की कोई शिकायत तो नहीं?"

प्रकाश 'जो आज्ञा' कहकर चल दिये।

रायबहादुर साहेब उठकर अन्तःपुर में आये। यहाँ स्त्री-मण्डल का बेढब जमघट था। गृहिणी सभी की आव-भगत कर रही थी। थाल-पर-थाल चले आ रहे थे। भण्डार सामग्री और पकवानों से भर रहा था।

एक स्थान पर दुलहिन का सिर गूँथा जा रहा था। उसकी माँग में मोतिया और चमेली के फूलों को गूँथा जारहा था। हाथों और पैरों पर मेंहदी का चित्रकारी की जा रही थी। दुलहिन बार-बार इन तमाम आफ़तों से अपने को बचाना चाहती थी, पर उसका छुटकारा न था। युवती मण्डल उन्हे ताने-तिश्नों और हँसी-मज़ाक़ से तंग कर रहा था। दुलहिन का रूप दिव्य ज्योति से जगमगा रहा था।

रायबहादुर साहेब कुछ क्षण खड़े-खड़े, यह सब खेल देखते रहे। इसके बाद वे एक-साथ हँस पड़े। दुलहिन उन्हें देखकर एकदम लजा गई, और स्त्रियों के झुरमुट में उसने सिर छिपा लिया।

इसके बाद वे गृहिणी निकट आकर बोले—"तुम्हें तो किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है?"

गृहिणी ने कहा—"किसी की भी नहीं। मगर यह लड़की तंग करती है। गहनों का बक्स आया रखा है, न उन्हें पहनती है, न ससुराल के वस्त्रों को पहनती है, ऐसी ज़िद्दी लड़की तो देखी नहीं।"

रायबहादुर साहेब हँसकर बोले—"इस मामले में मैं तुम्हारी कुछ मदद न कर सकूँगा।"

इतना कहकर वे चल दिये।

शहर में विवाह की धूम थी। बारात इस ज़ोरों पर चढ़ी, कि जिसका शोर मच गया। विवाह-वेदी पर मनुष्यों के सिरों का समुद्र था। रायबहादुर साहेब की पुत्री का विधवा-विवाह है,

यह देखना कौन न चाहता था ? २०० से ऊपर योरोपियन स्त्री-पुरुष बैठे थे। स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज एक आसन पर और कर्मवीर महात्मा देशराज दूसरे आसन पर पुरोहित बने बैठे थे। एक तरफ़ ब्रह्मचारियों का मण्डल पीले वस्त्रों में बैठा था। सामने संन्यासियों का दल गेरुआ वस्त्र में धारण किये उपस्थित था। उनके पीछे नगर के गण्य-मान्य पुरुष थे। महिलाओं का स्थान दक्षिण दिशा में था। ठीक ९ बजे मंगल-कार्य प्रारम्भ हुआ। वर-वधू ने विवाह-मण्डप में प्रवेश किया। वधू के मुख पर घूँघट न था। वह फूलों की लतिका के समान शोभा-यमान, ओस से स्नान की हुई अधखिली कली के समान, चन्द्रमा की चाँदनी के समान स्निग्ध, विनय और लज्जा से अधोमुखी धीरे-धीरे वेदी की ओर बढ़ रही थी। उसके पीछे कुल स्त्रियाँ मंगलाचरण करती आ रहीं थीं। दूसरी ओर सिंह-शिशु के समान उज्ज्वल परिधान धारण किये, पुष्प-मालाओं से सुशोभित वर महाशय परिजनों और मित्रों से घिरे हुये मण्डप की ओर अग्रसर हो रहे थे। दोनों के आसन पर बैठते ही स्वस्ति-वाचन का गम्भीर नाद प्रारम्भ हुआ। ब्रह्मचारी और विद्वन्मण्डल गम्भीर ध्वनि से वेद-पाठ करने लगे। वर-वधू नीची दृष्टि किये निमग्न बैठे थे।

पाठक, क्या वर-वधू का परिचय देने की आवश्यकता है ? वधू श्रीमती सौभाग्यवती सुशीला देवी, और वर श्रीयुत बाबू श्यामनाथ एम० ए० एल०-एल० बी०, आई० सी० एस० थे। वर-वधू पर पुष्प-वर्षा हो रही थी। वेद-पाठ समाप्त होते ही

स्वामीजी ने विवाह-कृत्य प्रारम्भ किया। आपकी व्याख्या, प्रवचन-शैली जिन्होंने देखी, उनके हृदय पर वैदिक विवाह-पद्धति की एक मुहर होगई। योरोपियन स्त्री-पुरुष मुग्ध होकर सब कृत्य देख रहे थे। दो घण्टे में विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ, और वर-वधू ने खड़े होकर सब को प्रणाम किया। फिर एक बार पुष्प-वर्षा के साथ सब ने गम्भीर ध्वनि से दोनों को आशीर्वाद दिया। इसी अवसर पर रायबहादुर साहेब ने १० हज़ार रु० की रक़म विधवा-विवाह-प्रचारक फ़ण्ड में दान दी, और इतनी ही वर पक्ष की ओर से दी गई। आगत सज्जनों का पान-इलायची और इत्र से सत्कार किया गया। सभी लोग प्रसन्न-वदन विदा हुए। समाचारपत्रों में अगले दिन इस महत्वपूर्ण विवाह के सचित्र विवरण निकले।

तीन दिन बाद बारात विदा हुई। दहेज से भरे हुये सन्दूकों को देख-देखकर, देखनेवाले 'वाह' करते थे। अवसर पाकर श्यामा बाबू प्रकाश को एक तरफ़ खींच लेगये। उन्होंने प्रकाश को कस-कर छाती से लगा लिया, और हठात् उसका मुँह चूम लिया।

प्रकाश ने उन्हें ढकेलकर कहा—"यह क्या गधापन है?"

श्यामबाबू की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। वे बोलने की चेष्टा करके भी न बोल सके। इस बार प्रकाश ने उन्हें अंक में भरकर उन्हें चूम लिया। प्रकाश की आँखें भी भर आईं। थोड़ी देर दोनों मित्र आनन्द के आँसू बहाते रहे। आवेग कम होने पर श्यामाबाबू ने कहा—"प्रकाश, तुम्हारा मैं गुलाम हूँ।

शरीर और आत्मा दोनों से तुमने मुझे ख़रीद लिया—हर लिया। तुम मनुष्य नहीं, देवता हो!"

प्रकाश के नेत्रों में जल, और होठों में हास्य था। उन्होंने एक घूँसा श्यामाबाबू की पीठ पर जमाकर कहा—"तुझे बात करने की तमीज़ ही नहीं आवेगी, चाहे लाख डिप्टी बन जाय।"

श्यामाबाबू मित्र का हाथ पकड़े खड़े रहे। उन्होंने कहा—"प्रकाश, मैं तेरे हृदय के शीशे को पार कर गया हूँ, वहाँ जो चीज़ मुझे दीख रही है, उसी को मुझसे छिपाते हो।"

प्रकाश बोले नहीं। वे मन का उद्वेग दबा रहे थे।

श्यामाबाबू ने फिर कहा—"प्रकाश, सुशीला तुम्हें पाकर कृतार्थ होती, पर तुमने आदर्श के नाम पर बलिदान दिया।"

प्रकाश अब खुले। उन्होंने कहा—"श्यामा, क्या यह बुरा किया? यह जैसा सुन्दर हुआ, वैसा-ही क्या वह भी होता? तुम क्या समझते हो, सुशीला सुखी न होगी? मैं प्राण देकर भी उसे सुखी करूँगा!"

"पर मैंने थोड़े-ही काल में—जब वह मेरे घर में थी—समझ लिया था, कि वह तुम से कुछ और भी आशा रखती थी।"

"श्यामा, अब इस बात को यहीं छोड़ दो। देखो, उसे तुम सदा क्षमा करना।"

"प्रकाश, मैं उसकी पूजा करूँगा। मैं उसका लौकिक पति

हूँ अवश्य, पर मैं तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ, कि मैं उसका आध्यात्मिक गुरु और संरक्षक ही रहूँगा। तुम उसके लौकिक भाई हो। विकार की बात करना भी पाप है। पर प्रकाश, चाहे भी जो-हो, मैं जानता हूँ, दोनों के शरीर में एक-दूसरे की प्यासी आत्मा क़ैद है। तब मैंने देखा, ये दोनों कभी न मिलेंगी, तभी मैं बीच में कूदा हूँ। मैं ईश्वर और अपने प्राणों की शपथ खाकर कहता हूँ, कि मैं जीवन-भर उसका आध्यात्मिक गुरु और संरक्षक रहूँगा—पति नहीं।"

प्रकाश ने घबराकर उसके हाथ पकड़ लिये। उसने कहा—"श्यामा, श्यामा! मेरा हृदय क्या तुम से छिपा है? पर देखना, मेरी आत्मा की कमज़ोरी उस पर प्रकट न करना, और न उसे इस विषय पर कभी विचार करने का अवसर देना।"

श्यामा ने आश्वासन दिया, और शपथ खाई। तब दोनों मित्र सारे आनन्दित जन-समूह में मिल गये।

चौवनवाँ परिच्छेद

गाँव-भर में इसका हल्ला मच गया। अभागा हरगोविन्द बुरी तरह झुलस गया था, और वह थोड़ी-ही देर में मर गया। मरती बार टूटी-फूटी ज़बान से जो-कुछ कह गया था, उसे लेकर सब लोग भीत-चकित हुये इस घटना को सोच रहे थे। सब की ज़बान पर एक-ही बात थी। चारों ओर चाँव-चाँव मच रही थी। जय-

नारायण बेटे के साथ, किवाड़ बन्द किये घर में पड़े थे। चौधरी-जी आये, और लौट गये। पञ्च आये, और चले गये। जो आया, चला गया; मुलाक़ात किसी से नहीं हुई। 'तबीयत अच्छी नहीं है, सो रहे हैं।'—बस, यही एक उत्तर था। लोग तरह-तरह के सवाल करने के इरादे से, नीचा दिखाने, मलामत देने, जन्म में थूकने, हँसी उड़ाने,—ग़रज़ जो जिस योग्य था, करने आता था, पर यहाँ तो मामला-ही दूसरा था—सब के लिये द्वार बन्द था। तीन बज गये। दोपहर ढल गया, पर जयनारायण के पट न खुले। अब रामचन्द्र बाबू ने आकर द्वार खटखटाया। भीतर से बिना परिचय पूछे-ही कहा गया—"इस वक़्त सोते हैं, जाओ!" रामचन्द्र ने अपना परिचय देकर द्वार खुलवाया। उन्होंने देखा—जयनारायण को अब पहचानना कठिन है, मानों क़ब्र से मुर्दा उखाड़ लिया गया हो। उन्होंने दुखी स्वर में कहा—"अब तो यह भी होगया बाबूजी! आगे क्या होगा?"

रामचन्द्र ने उन्हें दिलासा देते हुए कहा—"जो हुआ, सो हुआ—'बीती ताहि बिसारिये, आगे की सुधि लेहु।' उठो, काम-धन्धे से लगो, यह सब संसार के करिश्मे हैं। मैं जब आया था, तभी यदि आप मेरी बात पर ध्यान देते, तो यह सब क्यों होता?"

जयनारायण बहुत रो चुके थे। अब उनकी आँखों में आँसू थे-ही नहीं। वे गढ़े में धसी हुई आँखों को उनके चेहरे पर गड़ा-कर, एकटक देखने लगे। रामचन्द्र ने हाथ जोड़कर कहा—

"आप बुरा तो मानोगे, पर मैं इतना अवश्य कहूँगा, कि इतना भुगतकर भी आपकी आँखें नहीं खुलीं। सुबह का भटका शाम को भी घर आजाय, तो भी ठीक है। मैं आपसे विनती करता हूँ, कि आप छोटकी का ब्याह कर डालिये। मुझसे यह देखी नहीं जाती है।"

जयनारायण सिर नीचा किये कुछ सोचते रहे।

हरनारायण—जो अब तक चुपचाप पड़ा था—उठकर बैठ गया। उसने कहा—"क्या आपने कोई पात्र तैयार किया है?"

राम०—"पात्र तैयार होने में क्या देर लगती है? आपकी आज्ञा की देर है।"

"हाँ, हमें मंज़ूर है, आप पात्र तैयार करें।"

रामचन्द्र जयनारायण की ओर ताकने लगे।

जयनारायण दीर्घनिःश्वास त्यागकर बोले—"मुझे मंज़ूर है, वर तलाश करिये।"

रामचन्द्र हर्षित होकर बोले—"वर तैयार है। मालूम होता है, कल्याण का समय आगया।"

दोनों ने उत्कण्ठा से पूछा—"कौन?"

"विट्ठलदास का लड़का रामेश्वर।"

अब तो दोनों बाप-बेटे मानों आसमान से गिरे। दोनों एक साथ बोल उठे—"क्या आप हँसी करते हैं?"

"क्या यह हँसी का प्रसंग है?"

"क्या विट्ठलदास का लड़का? उसे क्या पड़ी है, जो मुझ

जैसे जाति-च्युत ग़रीब की विधवा लड़की लेगा? मेरी लड़की के भाग्य में-ही राज-रानी बनना कहाँ है? ऐसी-ऐसी तो उसकी सैकड़ों दासियाँ होंगी।"

रामचन्द्र ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"दीवानजी! असल में तुम रत्न के परखी नहीं हो। नारायणी को अभी तुम नहीं जानते, पर मैं जानता हूँ। तुम स्वीकार करोगे, तो वे सर-आँखों पर स्वीकार करेंगे।"

जयनारायण ने कुछ न कहकर रुपया निकालकर रामचन्द्र के हाथ पर धर दिया, और उनके पैर छूकर कहा—"तुम मेरे भाई हो, आज से नारायणी तुम्हारी हुई।"

रामचन्द्र ने रुपया सिर से लगाकर कहा—"मुझे आज बड़ा आनन्द हुआ है। विवाह इसी सप्ताह में होगा।" इसके बाद वे उठकर चल दिये।

जयनारायण कठिनता से आन्तरिक आनन्द से मुस्कराकर पीछे फिरकर स्त्री की तरफ़ देख पाये थे, कि वह दुहत्तड़ मारकर पत्थर पर गिर पड़ी। सिर फट गया, और बेहोश होगई। जयनारायण की ख़ुशी काफ़ूर होगई, वे उठकर यत्न करने लगे।

कुछ एक सिर ही की चोट होती, तो कदाचित् आराम हो जाता। पर बेचारी गृहिणी को तो असह्य, मानसिक और शारीरिक चिन्ताओं ने खा-डाला था। कुछ ठिकाना है! एक सद्गृहस्थ की स्त्री ने अचानक अपनी अबोध कन्याओं का वैधव्य, लाञ्छना, तिरस्कार, बदनामी, त्याग और जाने क्या-क्या न सहा! अन्त

में उसका एक-मात्र धर्म भी गया! दूर-दूर से सुना करती थी, कि लड़कियों के दूसरे ब्याह होने लगे हैं। पर उस पुराने मिज़ाज की स्त्री की समझ में किसी तरह उसकी उपयोगिता न बैठती थी। कितनी बार जयनारायण ने सिर दे मारा, लड़ाई-झगड़े किये, पर सब व्यर्थ। अन्त में उन्हें आज यह भी देखना हुआ। जिस घोर पाप से दूर रहने के लिये, पुनर्विवाह से बचने के लिये, इतनी बदनामी का टोकरा सिर पर रखा, वही अन्त में खुल्लम-खुल्ला हँसी-खुशी उसका बाप ही कर रहा है। ऐसे दुःख में, ऐसी चिन्ता की आँधी में, यह घोर अरुचिकर प्रसङ्ग, जिसका अभ्यास नहीं, रुचि नहीं, श्रद्धा नहीं, उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी हिन्दू के मुख में ज़बर्दस्ती गो-मांस ठूँस दिया हो। उसने झुँझलाकर बिना विचारे-ही उसी मस्तिष्क की उत्तेजना में हताश होकर वहीं पत्थर पर सिर दे मारा।

मामले में सार तो रहा ही नहीं था, यह धक्का वह सह नहीं सकी। अभागिनी वृद्धा अब अपनी दुलारी का सुख-स्वर्ग देखने जीवित न रही। वह उसके अगले ही दिन इस लोक से प्रस्थान कर गई।

पचपनवाँ परिच्छेद

—+++:o:o:+++—

जहाँ इतना हुआ था, यह और भी सही। सब-कुछ जहाँ सहा था, यह भी चुपचाप सह लिया गया। जब एक बार हला-

दूध पीकर पचा लिया, तो ऐसे छोटे-मोटे विप क्या कर सकते हैं? जयनारायण के पास जो सहानुभूति के लिये आता, उसे यही कहते—"अच्छा हुआ, भाग्यवान् चली गई। अब मेरी भी मिट्टी ठिकाने लगे, तो अच्छा है।"

इतना तो हुआ, पर नारायणी का विवाह रुका नहीं। क्रिया-कर्म समाप्त होते ही विवाह की तैयारी होने लगी। तैयारी तो होने लगी, पर उसमें कुछ धूम धाम नहीं थी। वर सुन्दर, सुशिक्षित रईस घर का था। वर-पक्ष के लोग कुल सम्मान, जाति में सब से बढ़कर थे। वे चाहते, तो उन्हें एक-से-एक बढ़कर लड़की मिल जाती। पर जयनारायण की मुसीबत ने उनकी बहुत सहानुभूति सम्पादन करली थी। रामचन्द्र के निरन्तर प्रयत्न करने पर वे प्रतिज्ञा कर चुके थे, जब तक नारायणी मिलेगी, अन्यत्र ब्याह न करेंगे। इतना होने पर भी धूम-धाम नहीं थी। पाठक! धूम-धाम क्या बनावट से हो सकती है? जब दिल चुटीला हो, चोट ताज़ी हो, तो धूम-धाम कहाँ हो सकती है? निदान, उसी ठण्डे प्रबन्ध में, अत्यन्त सादगी के साथ उस प्रसिद्ध रईस की बारात नियत तिथि पर जयनारायण के द्वार पर आपहुँची। बरात में वर, उसके पिता, भाई, सम्बन्धी, और दो पण्डित लोग थे। इतनी छोटी, और बे-धूम-धाम की बरात होने पर भी गाँव में यहाँ तक कि आस-पास के गाँवों तक में लोग दिल खोलकर मनमानी कह रहे थे। पुराने खुराँट, गालियों पर गालियाँ बक रहे थे। कलियुग की तो छोर नहीं थी। स्त्रियाँ ठोडी पर

उँगली रखकर अपना कौतूहल प्रकट कर रही थीं। पर कुछ ऐसे भी थे, जो उस विवाह को बहुत अच्छा कहकर इन उपद्रव-कारियों का तिरस्कार कर रहे थे।

इधर तो यह होरहा था, उधर ब्राह्मण-मण्डली में अलग गुल खिल रहा था। पास-पड़ौस के सभी ब्राह्मण बिना-ही बुलाये छज्जू मिस्सर के घर धरना दिये बैठे थे। सलाह यह होरही थी, कि यदि जयनारायण बुलावे, तो जीमने को जाना चाहिये या नहीं। इस मण्डली में प्रायः सभी भोजन-भट्ट थे। सब चुपचाप बैठे, एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे; क्योंकि ऐसी-ऐसी उम्दा तैयारियाँ–लड्डू, कचौरी, रायता छोड़ना क्या साधारण बात है? पर ऐसे अधर्मी के घर क्या भोजन जीमा जा सकता है, जिसने बेटी का पुनर्व्याह करके लोक ही को उलट दिया। जिसकी एक बेटी बदनाम हो चुकी, जो जात से गिर गया, उसके यहाँ ये पवित्र अग्नि-मुख-शर्मा कैसे भोजन करें? पर लड्डू, कचौरी, ख़ुर्मा, हलुआ यह सब क्या छोड़ने की चीज़ें हैं? साँप, छछुन्दर की-सी गति थी—न छोड़ते बनता था, न खाते। एक तरफ़, कुँआ एक तरफ़ खाई, बेचारे ब्राह्मण किधर जायँ? तिस पर तुर्रा यह, कि घृत की लपट चली आरही थी, और भूख पद-पद पर बढ़ रही थी। एक और आफ़त थी, कि चार-छः कोस चलकर आये है। अब घर लौटेंगे, तो ब्राह्मणी कहेगी कि क्या लाये? वह एक तो बिना पेटूदास कहे बात ही न करती थी, अब की तो चूल्हे की लकड़ी का ही प्रयोग करेगी; क्योंकि महाराज कई

विवाहों से सूखे घर लौट गये हैं। हर बार एक-से-एक बढ़कर बीती थी। सो अब की बार मामला चौपट ही होगा। बड़ी देर फ़ालतू बातों में बीतने पर एक ने कहा—"लो भाई, जो निश्चय करना है, जल्दी करो। भोजन का तो समय होगया है, अब कोई-न-कोई बुलाने आता ही होगा। इससे पहले ही अपना कर्तव्य तय होजाना चाहिये।"

एक उनमें कुछ पढ़-पत्थर थे। वे हटक-हटककर कुछ अक्षर उखाड़ लिया करते थे। संकल्प समूचा याद था, और वक़्त-बे-वक़्त सत्यनारायण की कथा भी कह लिया करते थे। सब ने उन्हीं को घेरा। सब बोले—"अब और कौन बोले, पण्डितजी हैं ही, जो ये कहें सो होय।" पण्डितजी एकदम गम्भीरता की कीचड़ में लतपत होगये—मानों कोई घर का मर गया हो। इस तरह धीरे-धीरे बोले—"शास्तर की जो है सो, आज्ञा ऐसी है, इस पापी के भोजन नहीं करनो चाहिए जो है सो।"

सब चुपचाप सुनते रहे। पण्डितजी फिर बोले—"इसमें हम जो हैं, सो अपना स्वार्थ नहीं देखते, मर्यादा की बात है।"

कुछ देर पीछे एक महाराज बोले,—इनके दो दाँत आगे को निकल गये थे, उनमें से हवा निकल जाती थी।

आप कहने लगे—"पर मुस्कल तो ये है, जो कोई उधर से बुलाने आया पण्डज्जी, तो हम जो हैं सो, नहीं जायेंगे।"

महाराज ने कहा—"हाँ, इस बात पर सब सोचलो। ऐसा न हो, सब चले जायँ, और हम रह जायँ।"

सब ने कहा—"हम तो साहब, सब के साथ हैं। सब जावेंगे, तो हम भी जावेंगे, नहीं तो नहीं।"

इतने में एक बोले—"क्यों गुरु! इसका परायत कुछ नहीं?"

पण्डितजी बोले—"पराक्षत तो है। जो है सो, शास्तर में है क्या नहीं?—गंगा-स्नान और सौ ब्राह्मण-भोजन, चाँदी की दच्छिणा।"

"चाँदी की दच्छना में तो क्या सन्देह है—विट्ठलदासजी क्या ऐसे-वैसे आदमी हैं? और गंगा-स्नान में भी कुछ बाधा नहीं। रही सौ ब्राह्मणों की, सो इतने तो हम हैं ही, बाक़ी क्या नहीं मिल सकते?"

"मिल क्यों नहीं सकते, पर ये लोग चाहें, तभी तो हो सकता है।"

इस पर महाराज बोले—"तो एक काम न करें, उधर ख़बर भेजदें, कि तुम यह सब परायत करो, तो हम जीम सकते हैं।"

भोंदू शर्मा फ़ौरन् उठ खड़े हुए। बोले—"इसमें क्या देर लगती है? हम अभी कहे आते हैं। देखते भी आवेंगे, कि भोजन में क्या देर है?"

पण्डितजी कहने लगे—"नहीं-नहीं, ऐसा जो है सो, नहीं; वे हमें ख़ुद बुलावें, तो जाना चाहिये।"

"जैसी पंचों की राय।" कहकर देवता बैठ गये।

अब समय की प्रतीक्षा होने लगी। कोई तो अँगोछा बिछा,

वहीं लुढ़क गये, कोई भीत के सहारे पीनक लेने लगे, कोई तम्बाकू मलने लगे, कोई निठल्ले माला ही ले बैठे। ग़रज़, छुज्जू मिस्सर के घर मज़े की चहल होगई।

घण्टे-पर-घण्टे बीत गये, पर कोई न आया। क्या भोजन हो चुका? क्या ब्राह्मण न बुलाये गये? कोई-कोई, जो सो गये थे, आँख खोलकर पूछ लेते थे—"कोई आया तो नहीं?" और 'नहीं' का उत्तर पाकर फिर सो रहते। अन्त में उनकी बेचैनी बढ़ी। धैर्य सीमा को पार कर गया। उन्होंने देखा—बारात वाला बनाती भोजन को गयी। ब्राह्मण बैठे ही रहे। तभी एक और घटना घटी—छुलिया नाइन हँसती हुई उधर आ निकली। ब्राह्मणों की मजलिस को सुस्ती से बैठी देखकर आँख मटकाकर हाथ हिलाकर कहा—"ऐ दादा! तुम यहाँ क्यों बैठे हो? जाओ न, जनवासे में रुपया दिखर रहा है। यह लो, मैं तो चिट्ठा बना लाई।" यह कहकर उसने टन-से शशि-वर्ण चतुर्मुख को बजा दिया।

अब भोंदू मिस्सर से न रहा गया। वे अपना सोटा उठाकर बोले—"यह लो भाई! हमारे रामजी तो चले।"

रिस्सू बोले—"और हम क्या यहाँ ऐसी-तैसी करावेंगे? हम भी चले।"

तिवारीजी बोले—"चलो, फिर हम भी चलें।"

अब तो एक-के-बाद-एक जपका। पण्डितजी कहने लगे—"भाई, बिना बुलाये जाना क्या ठीक है?"

छदम्मी बोले—"हम क्या खाने को जाते हैं, जो बुलाने की बाट देखें? सैर-तमाशे को सभी जाते हैं, उसमें बुलावा क्या? चलो भाई मौंदूजी!"

पण्डितजी बोले—"हाँ, तमाशे में क्या हर्ज है? चलो देखें, कि किस तरह ब्याह होता है?"

ग़रज़, धीरे-धीरे सभी चल दिये। यह अभागा ब्राह्मण-मण्डल अपनी कुल-कान, बड़प्पन, मद पर लात मारकर टुकड़ों के लालच से झख मारता चल खड़ा हुआ।

महृदय पाठक! इस दुर्दृश्य को देखकर आपको दुःख तो हुआ होगा। जिन्हें ऋषि-सन्तान होने का दावा है, जो कहते हैं, कि उनके द्वार पर चक्रवर्ती की शक्तियाँ ठोकरें खाया करती थीं, जिनके वचन में अमोघ शक्ति थी, जो तेजपूर्ण यशस्वी अपनी भृकुटी-विलास में अष्ट-सिद्ध नव-निद्धि रखते थे, उनके ही कुलांगार आज टुकड़ों के लिये भिखारी से भी निर्लज्ज बने, विना बुलाये उसी द्वार पर जारहे हैं, जिसे ये हृदय से पतित, अधर्मी, पातकी और अस्पृश्य समझते थे। छिः! पाठक शायद हम पर नाराज़ हों, पर हम क्षमा माँगते हैं; क्योंकि हम सत्य कहने में विवश हैं। हम शपथपूर्वक कह सकते हैं, कि इस वर्णन् में हमने नमक-मिर्च बिल्कुल नहीं लगाया है।

अस्तु, जिस समय यह टुकड़ख़ोर-मण्डल वहाँ पहुँचा, तब विवाह प्रारम्भ होगया था। हवन-कुण्ड और मण्डप सजे हुए थे। उच्चस्वर से वेद-पाठ होरहा था। सब क्रिया धीरे-धीरे सम्पूर्ण हुई,

और क्षण-भर में वही अभागिनी, कुलच्छनी, खसमखानी असहाय बालिका, जिसने अपमान, तिरस्कार में कितने दिन काटे थे;—सुहागिन होगई, दुलहिन बन गई। वह पीत-वर्ण मुख, वह अस्थि-पिञ्जर अन्त में सुहाग के शुभ-मुहूर्त में रंगीन, नवीन वस्त्रों के आवरण में सुरक्षित होगया। यह सामाजिक संगठन, यह नैतिक बल का तिलस्म था, जो लोगों के सामने था, जिसने भाग्य को, प्रारब्ध को, विपत्ति के दुर्दैव को लात मारकर भगा दिया था, और उसके स्थान पर सौभाग्य, आशा, सुख, उछाह की वर्षा कर दी थी। एक बालिका की गोद, जो अन्धकार और निराशा से टूटी पड़ती थी, प्रकाश और आशा से भर दी गई थी।

यह पुण्य उदारता की प्रति-मूर्त्ति विट्ठलदास ने लूटा। जब देश में ऐसे दीन-दयाल, पर-दुःख-दुखी पुरुष पैदा हों, तो एक क्या, ढाई करोड़ कलपती हुई आत्मा बात-की-बात में शान्ति और पवित्रता का जीवन प्राप्त कर सकती हैं। पर जीवन-दाता बनना हर-किसी का काम नहीं। विट्ठलदास-जैसे वीर-ही सच्चे जीवन-दाता कहा सकते हैं।

विवाह सम्पादन होगया, और उपरोक्त ब्राह्मण-मण्डल आप-ही-आप 'वाह, वाह—बहुत अच्छा' की ध्वनि से समय-समय पर अपनी तुच्छता का परिचय देता रहा।

अन्त में विट्ठलदास ने सब को सत्कार-सम्मान से भोजन कराया, और एक-एक रुपया दक्षिणा देकर विदा किया।

नारायणी बड़े घर की दुलहिन बनकर चली।

पाठक ! एक दृश्य हम छिपाये डालते हैं। हम में उसके वर्णन् करने की शक्ति नहीं है। उस दग्ध-हृदय पिता की विदा के समय पुत्री से भेंट बिल्कुल अलौकिक थी। उस समय दोनों पक्ष में कोई ऐसा न था, जो रो न रहा हो। पर यह रोना जैसे सुख का था—उसके लिये सब तरसते हैं। इन आँसुओं के साथ वर्षों के कड़ुवे दुःख धुल रहे थे।

छप्पनवाँ परिच्छेद

—:&:—

मणिकर्णिका-घाट पर एक शुभ्र-वसना महिला एक पञ्च-वर्षीय बालक की उँगली पकड़े, गीली धोती निचोड़कर, हाथ में लिये धीरे-धीरे सीढ़ियों की ओर आ रही थी। उसका मुख गम्भीरता, तेज और तप के प्रभाव से दैदीप्यमान् था। वह न इधर देखती थी, न उधर। बच्चा कुछ बोल रहा था, और वह उसकी बातों का धीरे-धीरे उत्तर देती जा रही थी।

सीढ़ी पर एक भिखारिन अर्द्ध-नग्न और विक्षिप्त अवस्था में पड़ी भीख माँग रही थी, उसके समस्त अङ्गों में कुष्ट फूट पड़ा था, आँखें और होठ गल गये थे, नाक बैठ गई थी। उसका स्वर नाक से निकलता था। रोग और दुर्बलता के कारण वह बैठ भी न सकती थी। उसके सन्मुख एक कपड़ा पड़ा था, उस पर आती-जाती स्त्रियाँ कुछ भुने हुए अनाज के दाने डाल जातीं थीं।

यह महिला जब सीढ़ी तक पहुँची, तो उसने इससे भी कुछ माँगा। उसकी दयनीय दशा देखकर महिला को करुणा आगई। उसने पूछा—"तुम कौन हो? और इस तरह क्यों पड़ी हो?"

भिखारिणी ने क्रुद्ध होकर कहा—"कुछ देती हो, तो देदो; पञ्चायत से क्या नतीजा?"

महिला उसके क्रोध से स्तम्भित होगई। उसने कहा—"बहन, नाराज़ न हो। तुम्हारा कष्ट देखकर मेरी छाती फटती है। कहो तो, तुम्हारी ऐसी दशा कैसे हुई?"

भिखारिणी ने कुछ दबंगता से कहा—"छाती फटती है, तो यह अपनी धोती मुझे दे डालो।"

भिखारिणी का ऐसा विचित्र भाव और जवाब सुनकर वह कुछ सोच रही थी, कि भिखारिणी की दृष्टि एक ओर तरफ़ जाकर अटक गई। महिला ने देखा—कोई भद्र पुरुष अपनी स्त्री और गोद के शिशु के साथ स्नान करने के लिये आये हैं—वे मोटर से उतर रहे हैं।

भिखारिणी क्षण-भर बड़बड़ाती रही, और इसके बाद एक बड़ा-सा पत्थर उठाकर भद्र पुरुष पर दे मारा।

महिला 'हैं, हैं! क्या करती हो?' कहती-ही रही, उधर पत्थर मारकर वह घृणास्पद गालियाँ देने लगी। पत्थर भद्र-पुरुष के पैर में लगा। वे अकचकाकर देखने लगे। देखते-देखते बहुत-से आदमियों इकट्ठा होगये। पुलीस-कॉन्स्टेबिल भी आगया।

भद्र पुरुष श्यामाबाबू थे। उन्होंने भी पहचान लिया, भिखारिणी वही स्त्री है, जिसे उन्होंने दो वर्ष की सज़ा दी थी। वह अब भी गालियाँ बक रही थी। श्यामाबाबू के साथ सुशीला थी, और उनकी गोद में छः मास का शिशु था। वह अवाक् सब देख रही थी।

भिखारिणी की दृष्टि सुशीला पर पड़ी। वह आँखें गड़ा-गड़ा-कर उसे देखने लगी। इसके बाद वह हठात् उठ खड़ी हुई, और सुशीला की ओर देखकर ज़ोर से बोली—"अरे! तू दर्ज़ी की छोकरी—तेरे ये ठाठ!"

सुशीला पहले तो डर गई, पीछे पहचान लिया—यह भाग्य-हीना वही स्त्री है, जिसने एक बार उसे फुसलाना चाहा था।

पुलिस-कॉन्स्टेबिल ने भद्र पुरुष का परिचय और संकेत पाकर भिखारिणी को पकड़ लिया। भीड़ और भी बढ़ गई थी।

महिला ने श्यामाबाबू के पास जाकर कहा—"आपने इसे कुछ कष्ट दिया था?"

"मैं मैजिस्ट्रेट हूँ। कन्या चुराने और उनसे बुरा कर्म कराने के अपराध में मैंने इसे दो वर्ष का दण्ड दिया था।"

"अब इसे क्षमा कर दीजिये, इससे अधिक इसकी क्या दुर्दशा हो सकती है?"

सुशीला ने कहा—"मैं इसे जानती हूँ, यह भले घर की लड़की है। आह! इसका सुन्दर रूप अब भी मेरी आँखों में है। मकाश भाई········"

महिला ने कहा—"क्या कहा ? प्रकाश ? आप कौन-से प्रकाश का नाम ले रही हैं ? क्या वही, जिन्होंने राजा······का .खून किया था ?"

"जी हाँ।"

"वे आपके कौन हैं ?"

"भाई।"

"कैसे भाई ?"

सुशीला घबरा गई। अब इसका क्या जवाब दे ?

महिला ने दो क़दम आगे बढ़कर कहा—"आप सुशीला तो नहीं ?"

"मैं सुशीला ही हूँ।"

"ओह !" महिला ने सुशीला को छाती से लगा लिया, और उसके बच्चे को गोद में लेकर बार-बार पुचकारने लगी।

सुशीला ने कहा—"क्षमा करें, आप मुझ पर इतनी कृपा करती हैं, और मैं आपको पहचानती भी नहीं। क्या यह मेरी ढीठता नहीं ?"

"नहीं, बहन, प्रकाश मेरे ममेरे भाई होते हैं। तुम्हारे लिये राजा साहब की हत्या करने, छः वर्ष का दण्ड पाने, और स्त्रियों के डेपुटेशन से प्रभावित होकर उनको गवर्नर का क्षमा-दान मिलने की कथा मुझे मालूम है। प्रकाश मेरा बड़ा मान करते हैं। श्यामाबाबू से तुम्हारे विवाह होने की बात स्वयं उन्होंने मुझे लिखी थी। मैं अभागिनी सब से अलग रहने को

विवश हूँ, इसलिये मैं तुम्हारे विवाह में भी नहीं आई थी। प्रकाश स्वयं मुझे लेने आये थे।"

श्यामाबाबू ने आगे बढ़कर कहा—"आप कुमुद देवी तो नहीं?"

"मैं कुमुद ही हूँ।"

"ओह!" उन्होंने लपककर बच्चे को गोदी में उठा लिया। बोले—"प्रकाश बारम्बार लिख चुका, पर आप ऐसी छिपीं, कि पता ही नहीं लगा। आज-ही प्रकाश आ रहा है। अब आप छूटेंगी नहीं। घर पर चलना-ही होगा।"

नहिला का एक भी आग्रह नहीं चला। श्यामाबाबू बिना स्नान किये, मोटर में बैठकर घर लौट आये। भिखारिणी को पुलीस लेगई। पीछे उनकी व्यवस्था पागलख़ाने में कर दी गई।

सत्तावनवाँ परिच्छेद

—:०:—

चाँदनी छिटक रही थी, एक साफ़ चबूतरे पर शीतलपाटी बिछी थी, उस पर छः स्त्री-पुरुष बैठे थे। स्त्रियों में, सुशीला, मालती और कुमुद, और पुरुषों में—श्यामा बाबू, प्रकाश और एक व्यक्ति जिनका परिचय आगे मिलेगा।

प्रकाश ने कहा—"कुमुद, मैंने बड़ी-बड़ी चेष्टा की—भाई से पूछा, पर तुम्हारा पता न लगा।"

"मैंने उन्हें शपथ दिला दी थी।"

"तुमने बड़ा दुःख भोगा।"

"दुःख-सुख तो मन के विकार हैं। मैंने सुख भी भोगा, और दुःख भी।"

"पर तुम्हारा दुःख तो अब भी वैसा ही है। कुमुद, क्या इसका अन्त न होगा?"

"अब मुझे दुःख क्या है?"

"ओह, तुम संसार के सभी भोगों से दूर हो!"

"भोगों की इच्छा रहने पर उनके न मिलने से दुःख होता है, मेरी उनसे तृप्ति होगई है।"

"यह तृप्ति कैसी हुई?"

"अन्तरात्मा की सूक्ष्म भावना से।"

"मैं तो उसका मतलब नहीं समझा।"

"सब के समझने की सब बातें नहीं। मेरा बच्चा जब सोता है, तब मैं निश्चिन्त काम करती रहती हूँ। यदि तुम्हारी रक़म बैंक में जमा है, तो तुम बे-फ़िक्र हो।"

"इस उदाहरण से अभिप्राय?"

"यही, कि तुम कहते हो कि स्वामी के बिना स्त्री सब दुःखों को सहती है। मैं स्वामी को सदैव पास पाती हूँ।"

"सिर्फ़ कल्पना से?"

"कल्पना को इतना तुच्छ क्यों समझते हो? कल्पना ही से भाई-बहन, पति-पत्नी का रिश्ता होता है।"

"परन्तु उस में इन्द्रिय-वासना भी तो है।"

"उसे मैंने जीत लिया है, और यही मेरी तृप्ति का विषय है।"

"परन्तु पुनर्विवाह तो शास्त्र से सिद्ध है।"

"मैं इस पर विचार ही नहीं किया चाहती। जिनके हृदय हों, जिनकी वासना प्रबल हो, वे उस शास्त्र-वचन से काम लें।"

"परन्तु पुष्प का अस्तित्व किसलिये है?"

"वह विलास की सजावट में भी काम आते हैं, और देव-पूजा में भी।"

"परन्तु कुमुद, क्या तुम उसी प्रकार पति को निकट देखती हो, जैसे जीवित अवस्था में देखती थीं?

"बिल्कुल उसी प्रकार।"

"इन्हीं चर्म-चक्षुओं से?"

"ईश्वर क्या चर्म-चक्षुओं से देखा जाता है?"

"वह आत्मा का विषय है।"

"जो ज्ञान का प्रकरण है, वह सदा ही आत्मा का विषय है। उसमें जितनी वासना कम हो, उतना उत्तम।"

"तब विधवा-शब्द क्या हिन्दू-जाति पर शाप नहीं?"

"वह हिन्दू-जाति का भूषण है, और संसार की किसी जाति में ऐसी पवित्रता और त्याग के गम्भीर अर्थों से परिपूर्ण शब्द ही नहीं।"

"परन्तु बलात्कार से त्याग?"

"यह बुरा है, अबोध बालिकाओं को विधवा बनाना और उन पर निष्ठुर विधान का प्रहार करना बुरा है।"

"तब तुम उनके लिये विधवा-विवाह उचित समझती हो?"

"अवश्य; जिसका हृदय शून्य हो, या वासना प्रबल हो।"

"यह नियम क्या स्त्रियों के लिये है?"

"स्त्री-पुरुष दोनों के ही लिये।"

"पर क्या यह भयङ्कर नहीं है, कि कुछ स्त्री-पुरुष अकेले जीवन व्यतीत करें?"

"उसी दशा में, जब कि दो बातें हों, जिनका मैं वर्णन् कर चुकी हूँ।"

श्यामा बाबू बोले—"परन्तु इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। जाने कब वे कुमार्ग में जायँ, और गुप्त पापों की सृष्टि हो।"

"मैं तो उत्तर दे चुकी। सारे पाप शून्य-हृदय करते हैं। जिनके लगन लगी है, वे न वासना में गिरते हैं, और न पाप उन्हें छू सकता है।"

सुशीला बोली—"आपकी जीवन-चर्या क्या है?"

"मैं सदा श्वेत वस्त्र पहनती हूँ। चार घड़ी भोर में उठती हूँ। सूर्योदय से प्रथम स्नान, और सन्ध्या-वन्दन से निपट लेती हूँ। चटाई पर सोती हूँ, शृङ्गार नहीं करती, एक समय रोटी और एक तरकारी खाती हूँ। प्रति मास ४ उपवास करती हूँ। मैं सिर्फ़ चार घण्टे सोती हूँ। आठ घण्टे पढ़ती हूँ, और बच्चे को पढ़ाती हूँ, और बारह घण्टे इधर-उधर सेवा-कर्म में व्यतीत

करती हूँ। मैं दुःखी नहीं हूँ। मेरी आत्मा सन्तुष्ट है, और मैं अब सब तरह निर्भय हूँ।"

तपस्विनी महिला की उपरोक्त बातें सुन, सब स्तब्ध रह गये। तीसरे व्यक्ति वही उसके जेठ थे। उन्होंने कहा—"बहू, मेरे अपराधों को क्षमा करना, मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया।"

कुमुद ने कहा—"आप वैसे ही हमारे पूज्य और बड़े हैं, और मेरे मन में आपके प्रति कोई द्वेष-भाव नहीं।"

थोड़ी देर चुप रहकर उसने फिर कहा—"प्रकाश भाई, विलास और वासना का साधारण जीवन सभी व्यतीत करते हैं। पर मैं अपना अनुभव कहती हूँ, कि त्याग और तप का जीवन उससे कहीं अधिक सरल है। जो लोग उसे कठिन बताते हैं, उन्होंने उनका अनुभव नहीं उठाया। जगत् के भोगों में तो गृहस्थ को भी इतना न फँसना चाहिये; क्योंकि वे शरीर और आत्मा दोनों ही को नाश करनेवाले हैं।"

प्रकाश ने कहा—"बहिन, मैं तुम्हारे जीवन का अनुसरण करूँगा।"

"तुम? प्रकाश, तुम?"

"हाँ, मैं शून्य-हृदय नहीं—वासनायुक्त भी नहीं।"

प्रकाश उठकर चलने लगे।

श्यामाबाबू मर्माहत हुये। उन्होंने उनका हाथ पकड़कर कहा—"प्रकाश भाई, अगर तुम्हारी यही इच्छा है, कि हम लोगों का जीवन दुःखद हो, तो बात ही दूसरी है।"

कुमुद ने कहा—"प्रकाश, ज़रा बैठो। मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ।"

प्रकाश बैठ गये। कुमुद ने कहा—"तुम इतने साहसी, पण्डित और विद्वान् होकर, दूसरों के अनुकरण की चेष्टा क्यों किया चाहते हो?"

"महान् आत्माओं का अनुकरण करना ही चाहिये।"

"वह साधारण लोगों के लिये है—तुम्हारे-जैसों के लिये नहीं। तुम्हें अपने का जीवन आदर्श बनाना पड़ेगा। तुम समाज से छिपकर नहीं रह सकते।"

"तुम चाहती क्या हो कुमुद?"

"तुम्हें विवाह करके सद्गृहस्थ बनना चाहिए।"

"ओह, कुमुद यह बहुत कठिन है।"

"तुम्हें कठिन ही काम करना चाहिये। तुम्हें विवाह करना होगा;—अपने लिये नहीं, आदर्श और मर्यादा की रक्षा के लिये।"

सुशीला बीच में बोली—"यदि आप विवाह न करेंगे, तो मैं प्राण त्याग दूँगी।"

प्रकाश हँस दिये। उन्होंने श्यामाबाबू की ओर देखा—उनकी आँखों में आँसू थे। प्रकाश की आँखें भी भर आईं। उन्होंने कहा—"कुमुद, क्या तुमने कोई पात्री ठीक कर रखी है?"

"नहीं तो क्या?" यह कहकर उसने मालती की ओर देखा।

श्यामा ने कहा—"मालती-जैसी लड़की के जीवन का यथार्थ मूल्य तुम्हारा शरीर है। प्रकाश, तुम अपना शरीर मालती

को प्रदान कर दो। इससे अधिक मालती स्वयं प्राप्त कर लेगी।"

कुमुद ने कहा—"मालती की इच्छा हमें मालूम है। सुशीला ने उसे सब बातें कह दी हैं।"

प्रकाश ने कहा—"कुमुद, क्या तुम मेरा विधान अपने से बिल्कुल विपरीत किया चाहती हो?"

"हाँ, प्रत्येक पुरुष का विधान पृथक् ही होता है।"

कुछ देर चुप रहकर प्रकाश ने श्यामाबाबू की ओर देखा, फिर कुमुद से कहा—"कुमुद, मुझे मालती की सेवा करना स्वीकार है। मैंने मालती को अपना शरीर दिया। पर एक शर्त है। इस विवाह में कुछ भी धूम-धाम न होगी।"

"कुछ भी नहीं, यह विवाह आज ही सम्पन्न होजायगा।"

"आज ही कैसे?"

"ठहरो, सब ठीक हुआ जाता है।" कुमुद ने श्यामाबाबू से परामर्श किया। मालती वहाँ से उठकर भागना चाहती थी, पर सुशीला उसे पकड़ हुए थी। थोड़ी ही देर में सब मंगल-पदार्थ एकत्रित कर दिये थे। मालती और प्रकाश दोनों ने स्नान किया, यज्ञ की वेदी पर बैठे, और स्वयं ही धर्म को साक्षी देकर अपने को पति-पत्नी रूप में स्थापित कर दिया।

उस आनन्द की बाढ़ में सुशीला की आँसुओं की धारा को कोई भी न देख सका।

उपसंहार

नगर अवसन्न था। रात यद्यपि चाँदनी थी, पर मौसम सर्दी का था। यद्यपि अभी नौ ही बजे थे, परन्तु सड़कों पर सन्नाटा था। ऐसे ही समय पागलखाने के अस्पताल में एक गन्दी और दुर्गन्धित कोठरी में एक हृदयद्रावक करुण दृश्य हो रहा था।

उस कोठरी में उसी के अनुरूप खटिया पर वैसे ही वस्त्र ओढ़े अभागिनी भगवती अपनी अन्तिम यात्रा के लिये बट्ट-पट्ट सम्हाल रही थी। यात्रा बहुत बड़ी थी, और वह इस लोक से परलोक तक थी। इसलिये उसकी तैयारियाँ भी वैसी ही थीं। वह कितनी भारी थीं, कितनी भीषण थीं, इसके देखने का कोई साधन प्रत्यक्ष तो था नहीं—हाँ, मन के उद्वेग, बेहोशी की बकवाद, हृदय की धड़कन और सर्वाङ्ग-कम्प को देखकर उस भीषण तैयारी का कुछ अनुमान हो सकता था। रह-रहकर उसके

हाथ अकड़ जाते थे, आँखें निकल पड़तीं थीं, मुँह में झाग आजाते थे, और गले की नसें तनकर रस्सी बन जातीं थीं। वह चीख़ती थी, उछलती थी, काँपती थी, बकती थी, और छट-पटाती थी—इतना, जितना कि वह अपने भाई की अमानुषी मार, माता के विषाक्त तिरस्कार, और हृदय के भारी-से-भारी अपमान में भी न रोई थी, न चिल्लाई-उछली थी। यह उसकी अन्तिम घड़ियाँ थीं, और वह मानो संसार की रही-सही यन्त्रणाओं की बची-खुची झूठन को चलते-चलाते भोगे जाती थी। कदाचित् इसलिये कि फिर कोई इस विष को खाकर न मरे !!!

ऐसी ही दशा थी, बल्कि इससे भी करुण थी। दो-दो धायें उसे पकड़ रहीं थीं। बार-बार इञ्जेक्शन दिया जा रहा था, पर वह दोनों धायों को दाँतों से काट-काटकर उन्हें विह्वल कर रही थी। ऐसे समय में नौकर ने इत्तला दी।

"मेम साहेब, इसका बाप आया है।"

साथ ही जयनारायण ने कमरे में प्रवेश किया। वह कुछ देर स्तब्ध होकर मुमूर्षु बेटी को ताकता रहा। रोगिणी ने उसकी तरफ़ देखा। फिर दोनों हाथ फैलाकर बोली—"लाये हो? लाओ, उसे मुझे दो।" इतना कहकर वह हठात् उठ खड़ी हुई।

जयनारायण ने निकट आकर कहा—

"किसको बेटी?"

धाइयों ने पकड़कर बलपूर्वक सुला दिया।

भगवती ने आँखें निकालकर विद्रूप से कहा—"मेरी बच्ची को, जिसे आँखों से एक बार भी नहीं देखा, नहीं प्यार किया! अरे, कौन माँ इस तरह बच्चे को हलाल करती है। अरे राम! वह खून में नहा रही थी। बाप रे! यदि मेरी माँ भी इसी तरह करती, तो मैं इतनी बड़ी कैसे होती? लाओ, लाओ, उसे मुझे दो, मैं उसे गोद में लूँगी। वह फिर उठ चली।

जयनारायण बिलखकर रो उठे। उन्होंने कहा—

"मेरी बच्ची, शान्त हो जाओ। दुःख की बात सोचने से दुःख बढ़ता है; फ़ायदा कुछ नहीं होता। इस बड़ी बेटी, तू भगवान् की याद कर, वे ही तेरी व्याधा हरेंगे। हाय......इस स्थान पर इस तरह मरना मेरी लाड़ो बेटी को नसीब हुआ—!!" जयनारायण ने दुहत्तड़ सिर में मार ली, और सिर पकड़कर धरती पर बैठ गये।

रोगिणी पर उसका असर न पड़ा। वह फिर एक झटका देकर उठ खड़ी हुई। उसने कहा—"तुम पापी हो; न लाये—न लाये। मैं खुद चलती हूँ—उसे लेकर आऊँगी। ओह, वह वहाँ गीली मिट्टी में रखी है, उसकी नस-नस में सर्दी घुस गई होगी।"

भगवती उठकर चली ही थी, कि नर्सों ने दौड़कर उसे पकड़ा; पर वह स्वयं चक्कर खाकर गिर पड़ी। दुर्भाग्य की बात—खाट के पास रखी हुई पिता की छतरी की लोहे की तीली

उसकी आँख में घुस गई। उसके निकालते ही रक्त की धारा बह चली। वह धारा थी, या नदी का प्रवाह! तत्काल डॉक्टर ने आकर उपचार शुरू किये, पर वह धारा न रुकी।

धीरे-धीरे भगवती की संज्ञा जाने लगी। वह सफ़ेद पड़ गई और उसके प्रलाप की गति भी धीमी पड़ गई।

अन्तिम क्षण समीप है, यह सभी ने समझ लिया।

डॉक्टर ने हताश होकर कहा—"उसे लिटा दो। अब कुछ नहीं हो सकता।"

जयनारायण उठ-खड़े हुए, और आँख फाड़-फाड़कर बेटी को देखने लगे।

आँख से रक्त की धार जारी थी। सारा चेहरा ख़ून में सन गया था। वह रह-रहकर काँपती थी, वह दोनों हाथ ऊपर को उठाये मानो कुछ टटोल रही थी, और मुख से कुछ अस्पष्ट शब्द बड़बड़ा रही थी। धीरे-धीरे उसके हाथ शिथिल होकर गिर पड़े, और उसकी चेष्टा शान्त होने लगी।

टन-टन करके ग्यारह बजे, और भगवती की अर्द्ध-श्वास चलने लगी। जयनारायण कहाँ तक रोते। वे उठे, और उन्होंने उसके सिरहाने बैठकर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया। फिर बड़े प्यार से अपने आँचल से उसका रक्त पोंछा, और झुककर उसका माथा चूम लिया!

भगवती ने आँखें खोल दीं। वह कुछ क्षण फटी-फटी आँखों से पिता को देखती रही। बोलने की चेष्टा की, पर न बोल सकी।

अन्त में उसने आँखें बन्द करलीं, और कुछ-ही मिनट बाद उसने अन्तिम श्वास छोड़ दी।

सन्नाटा होगया। परन्तु कहीं से एक विषादपूर्ण गीत के गाने की धीमी ध्वनि सुनाई दी।

जयनारायण ने सिर उठाकर देखा—भावुक लेडी-डॉक्टर करुणार्द्र स्वर में एक विषादपूर्ण अँग्रेज़ी गीत गाकर अभागिनी भगवती की आत्मा को स्वर्ग के बन्द द्वार पर मानो निराश भाव से खड़ी देख रही है।

सूचीपत्र

(इस सूचीपत्र मे उन पुस्तकों का उल्लेख छोड़ दिया गया है, जिनका संस्करण समाप्त हो गया है, और जिन्हें छपवाना निकट-भविष्य में अभीष्ट नहीं है।)

प्रकाशक—

साहित्य-मण्डल, दिल्ली।

हमारी
अप्राप्य पुस्तकें

ज़ब्त कर ली गईं

गदर—उपन्यास। लेखक श्री० ऋषभचरण जैन। ४ अप्रैल सन् १९३० ई० को धारा १२४। अ के अन्तर्गत।

हड़ताल—कहानी-संग्रह। लेखक श्री० ऋषभचरण जैन। ११ जुलाई, सन् १९३१ ई० को धारा १२४। अ के अंतर्गत।

भारत में बृटिश-राज्य—राजनीति। ले० श्री० चतुरसेन शास्त्री धारा १२४। अ के अंतर्गत।

लेनिन और गाँधी—जीवन जर्मन-विद्वान् रेले फुलप मुलर-प्रणीत। ७ मार्च सन् १९३२ ई० को धारा १२४। अ के अंतर्गत।

रूस का पंचवर्षीय आयोजन—अर्थ-शास्त्र। अनुवादक श्री० ठाकुर राजबहादुर सिंह। ७ जून, १९३२ ई० को आॅर्डीनेन्स के अन्तर्गत।

इस्लाम का विष-वृक्ष—इतिहास। लेखक श्री० चतुरसेन शास्त्री। ६ सितम्बर सन् ३२ को धारा १५३। अ के अंतर्गत।

संस्करण समाप्त होगया!

षड्यन्त्रकारी—अलेग्ज़ेंडर ड्यूमा-लिखित। पहिला संस्करण जुलाई १९३१ में प्रकाशित।

देहाती सुन्दरी—टॉलस्टॉय-लिखित—पहला संस्करण सितम्बर, १९३२ में प्रकाशित।

यौवन की आँधी—तुर्गनेव-लिखित। पहला संस्करण अक्टूबर, १९३२ में प्रकाशित।

श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र—विद्या-वारिधि श्री० चम्पतराय बैरिस्टर-लिखित। पहला संस्करण जनवरी, १९३२ ई० में प्रकाशित।

जेल-यात्रा—'मुक्त'-लिखित उपन्यास। पहला संस्करण फ़रवरी १९३२ में प्रकाशित।

समाप्त-प्राय: हैं—

१—विनाश की घड़ी।

२—जासूसी कहानियाँ।

३—राजस्थान।

४—चार क्रान्तिकारी।

५—फूलदान।

१—अमर अभिलाषा

(लेखक—श्री० चतुरसेन शास्त्री)

शास्त्रीजी की सब से ताज़ी और सब से अपूर्व रचना। हिन्दू-समाज के विधवा-तत्व का पाण्डित्य-पूर्ण निदर्शन। समाज के रँगे सियारों का भण्डा-फोड़! सज्जन और उदार-चित्त नवयुवक का आदर्श चरित्र। दुःख, शोक, लज्जा, अनुताप तथा हर्ष, उत्कर्ष, सदाचार और त्याग के जीते-जागते चित्र। यह पुस्तक सर्व-साधारण में इतनी पसन्द की गई है, कि छपने के पूर्व इसके प्रायः पाँच-सौ ऑर्डर और एक हज़ार से ऊपर जिज्ञासा-पत्र आगये थे। स्त्रियों के लिए यह अपूर्व वस्तु है। मोटे एण्टिक पेपर पर सुन्दर छपे हुए साढ़े तीन-सौ पृष्ठ। मनोहर कवर, छः कलापूर्ण चित्र, पक्की जिल्द, और मूल्य केवल ३) रुपया।

२—विश्व-विहार

(सम्पादक—ठा० राजबहादुरसिंह)

आज दिन संसार की प्रत्येक उन्नत भाषा में अपरिमित बालकोपयोगी साहित्य प्रकाशित होरहा है। परन्तु हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा में आज तक केवल दो-चार छोटी-छोटी पुस्तिकायें प्रकाशित हुई हैं। आज हमारे बच्चे स्कूल की निरर्थक कुत्ते-बिल्ली की कहानियाँ पढ़कर अपना जीवन बर्बाद कर रहे हैं; उन्हें दिमाग़ी ख़ुराक देनेवाला साहित्य हिन्दी भाषा में देखने को नहीं

मिलता। इस पुस्तक ने हिन्दी-संसार के सामने एक सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। हिन्दुस्तान के प्रत्येक पिता को इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य अपने बच्चों के हाथ में देनी चाहिये। लगभग तीस-चालीस चित्रों से विभूषित, पचरँगे टाइटिल से सुशोभित, कार्ड-बोर्ड के बक्स में बन्द पुस्तक बिल्कुल एक बढ़िया खिलौने के रूप में पेश की गई है। मूल्य केवल २) रुपया।

३—बादशाह की बेटी

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

फ्रान्स के महान् उपन्यासकार अलेग्ज़ैण्डर ड्यूमा के 'दि टू डायनाज़' का रोचक हिन्दी-अनुवाद। हेनरी द्वितीय के जीवन-काल की एक-मात्र कहानी। जो लोग उपन्यास पढ़ने के शौक़ीन हैं, वे ड्यूमा की क़लम के रस का मज़ा जानते हैं। इस उपन्यास में कर्त्तव्य और प्रेम, आशा और निराशा, शान्ति और संघर्ष के ऐसे-ऐसे लाजवाब दृश्य मिलेंगे, जिन्हें पढ़कर आप लेखक की क़लम चूमने के लिये विह्वल हो उठेंगे। मूल्य सचित्र, सजिल्द का ३) रुपया।

४—अफ़ीम का अड्डा

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

इँग्लैण्ड के विश्व-विख्यात जासूसी कहानी-लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन अनोखी, आश्चर्यजनक, लोमहर्षक और अद्भुत कहानियों का चटकीला अनुवाद। एक बार आरम्भ करके

बिना समाप्त किये न छोड़ना, इन कहानियों की ख़ूबी है। मूल्य १) रुपया।

५—अमर राठौर

(लेखक—श्री० चतुरसेन शास्त्री)

द्विजेन्द्रलाल-स्कूल का सर्व-प्रथम मौलिक नाटक। हिन्दी-भाषा में नाट्य-साहित्य अविकसित अवस्था में है। ऐतिहासिक नाटक तो हिन्दी में देखने को नहीं मिलते। शास्त्रीजी की ज़ोरदार लेखनी से निकला हुआ यह ऐतिहासिक नाटक सर्वथा मौलिक है। कवर पर भावपूर्ण चित्र। पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग, और मूल्य केवल १) रुपया।

६—प्रेम का दम्भ (दूसरा संस्करण]

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

महर्षि टॉल्सटॉय रूस के एक बड़े प्रबल महापुरुष हुए हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, और उन्होंने जिस विषय पर जो-कुछ लिखा, संसार-साहित्य का अनमोल रत्न पैदा किया। प्रस्तुत रचना में उनकी दो विश्व-विख्यात कहानियों का अविकल अनुवाद है। विवाह क्या है? गृह-कलह का परिणाम क्या है? नैतिकता किस चीज़ का नाम है? आँखों पर पट्टी बाँधकर हम किस पतन-गह्वर में समा रहे हैं? इन प्रश्नों का मार्मिक उत्तर आप इस पुस्तक में पायेंगे। ज़ारकालीन दास-प्रथा का रोमाञ्चकारी वर्णन् भी इसी पुस्तक में है। अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

दूसरा संस्करण अत्यन्त शुद्धतापूर्वक छापा गया है। मूल्य सचित्र सजिल्द का १॥) रुपया।

७—विनाश की घड़ी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुरसिंह)

विश्व-विख्यात आधुनिक दार्शनिक रोम्याँ रोलाँ के वीर-रसपूर्ण नाटक Fourteenth of July का हिन्दी-अनुवाद। मूल्य १) रुपया।

८—तपोभूमि

लेखकगण—

(श्री० जैनेन्द्रकुमार जैन)

(श्री० ऋषभचरण जैन)

जैन-बन्धु का प्रथम और अपूर्व सामाजिक उपन्यास है। साढ़े तीन-सौ पृष्ठ के उपन्यास में केवल कुल चार पात्र हैं—जिनमें सभी अनोखे, सभी विचित्र, सभी अपूर्व! किस प्रकार आदमी का मन गिरगिट की तरह रंग बदलता है, किस प्रकार बड़े-बड़े संयमी महापुरुष कामिनी के रूप-जाल में सर्वस्व गँवा बैठते हैं। इसके साथ ही घरू झगड़ों की शान्ति का क्या उपाय है, और स्त्री-पुरुष का जीवन क्यों दुःखपूर्ण हो-उठता है—इसका रहस्य भी इस पुस्तक में देखिये। मूल्य केवल २) रुपये।

९—चार क्रान्तिकारी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुरसिंह)

इँग्लैण्ड के लोमहर्षक लेखक एडगर वालेस के सब से प्रसिद्ध उपन्यास The Four Just Men का हिन्दी-अनुवाद। इस एक पुस्तक ने लेखक को संसार-भर में अमर बना दिया था। इसमें लेखक की अद्भुत शैली और भाषा-नैपुण्य का परिचय मिलता है। वर्ष में ढाई हज़ार कॉपियाँ हाथों-हाथों उड़ गईं! २५० पृष्ठ की पुस्तक का दाम केवल एक रुपया।

१०—तलाक़

(लेखक—श्री० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त')

लेखक का एक भावपूर्ण सामाजिक उपन्यास। युवावस्था की फूल-भरी शैया का विषाद। प्रेम के झकोरों में नवयुवक-हृदय का अधःपतन, और गार्हस्थ्य-जीवन की उलझी-सुलझी समस्याएँ। मूल्य केवल २) रुपया।

११—राजस्थान

(लेखक—स्वर्गीय श्री० श्रीगोविन्द हरनारण)

भारत के गौरव-सूर्य राजस्थान के विषय में हिन्दी-भाषा में एक भी ऐसा मौलिक ग्रन्थ नहीं, जिसे पढ़कर हिन्दी-पाठक भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रस्तुत ग्रन्थ इस कमी की पूर्ति करता है। दर्शनीय गेट-अप। मूल्य केवल १) रुपया।

१२—टॉल्सटॉय की डायरी

(अनु०—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

महर्षि टॉल्सटॉय की यौवन-कालीन दुर्बलताओं के ज्वलन्त-चित्र। नवयुवक-हृदय की चञ्चल वृत्तियों का दिग्दर्शन। हिन्दी-साहित्य में बिल्कुल अपूर्व पुस्तक। ३०० से अधिक पृष्ठ। कई चित्र। मूल्य ३) रुपया।

१३—जासूसी कहानियाँ

(अनुवादक—श्री० सुकुमार चट्टोपाध्याय)

इँग्लैण्ड के रहस्य-पूर्ण उपन्यास-लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन सब से अच्छी कहानियों का अनुवाद। एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये छोड़ना असम्भव है। इन कहानियों को पढ़कर पाठक फिर रद्दी जासूसी क़िस्सों को पढ़ने का नाम न लेंगे। मूल्य केवल १) रुपया।

१४—मुग़लों के अन्तिम दिन

(लेखक—ख़्वाजा हसन निज़ामी)

ख़्वाजा साहब उर्दू-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ लेखकों में से हैं। उन्होंने सन् ५७ के ग़दर के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। यह उनका अनुवाद है। मूल्य १) रुपया।

१५—सभ्यता का शाप

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

महर्षि टॉल्सटॉय के सुन्दर नाटक Fruits of Enlightenment का अविकल अनुवाद। अमीरों के चोंचले! दिमाग़ी ऐयारी की करामात! बिगड़े मस्तिष्कों के विकार! अत्यन्त मनोरञ्जक पुस्तक है। मूल्य केवल १।) रुपया।

१६—चार्ली चैप्लिन

अँग्रेज़-सिनेमा-विशारद विलियम डॉडसन योमैन की एक सर्वाङ्ग-सुन्दर रचना का भावानुवाद। विश्व-प्रसिद्ध चार्ली चैप्लिन की घटनापूर्ण जीवन-गाथा और उसके प्रसिद्ध खेलों की सारगर्भित आलोचना। आठ चित्र और पुष्ट काग़ज़। पढ़ने योग्य पुस्तक है। मूल्य १) रुपया।

१७—मधुकरी

(सम्पादक—पं० विनोदशंकर व्यास)

हिन्दी के तेईस उदीयमान् कहानी-लेखकों की एक-एक सरस-सुन्दर रचना का सङ्कलन। हिन्दी-साहित्य में अपने जोड़ का पहला कहानी-संग्रह। प्रायः सभी लेखकों के चित्रों-सहित। मूल्य २०० से अधिक पृष्ठों की अपूर्व पुस्तक का केवल ३) रु०।

१८—कण्ठ-हार

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

विख्यात फ्रान्सीसी लेखक अलेग्ज़ैण्डर ड्यूमा के 'दि क्वीन्स नेक्लेस' का हिन्दी-अनुवाद। किस प्रकार राज-महिषी के हीरों के हार को लेकर भयङ्कर षड्यन्त्र रचा गया, किस प्रकार जादूगर कागलस्तर की भयङ्कर नीति के कारण फ्रेञ्च-राजनीति में क्रान्ति का प्रवेश हुआ, किस प्रकार मायाविनी लीन की चालों के कारण महारानी मेरी को दुनियाँ में मुँह दिखाना हराम होगया। इसके साथ-साथ उस समय की राजनैतिक स्थिति, राज-महलों की अभि-सन्धियाँ, कर्तव्य और प्रेम के लोमहर्षक संघर्ष और राजकीय-कोप के भीषण परिणाम भी आप प्रस्तुत पुस्तक में देख पायेंगे। अनुवाद की भाषा अत्यन्त रोचक और सजीव है।।पाँच सौ पृष्ठ की सचित्र, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल २) रुपया।

१९—कसक

(लेखक—श्री० रामविलास शुक्ल)

हिन्दी के एक नवयुवक लेखक की प्रथम रचना। एक अछूती प्रेम-कहानी का सरस वर्णन। मूल्य सचित्र सजिल्द १)

२०—धर्म के नाम पर

(लेखक—श्री० चतुरसेन शास्त्री)

हिन्दुओं की नालायकी नैबन्धिक वर्णन। क्रांति के झोंके, का

नवीन विचारों की धारा, और हिन्दू-समाज को तपाकर स्वर्ण कर देनेवाली स्कीमें। प्रत्येक हिन्दू को पढ़नी चाहिये। मू० १) रु०।

२१—फ़र्स्ट एक्सपेरीमेण्ट

(लेखक—श्री० ऋषभचरण जैन)

लेखक के 'सत्याग्रह'-नामक हिन्दी-उपन्यास का अँग्रेज़ी-अनुवाद। सत्याग्रह' का अनुवाद भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं में भी हुआ है। उसकी यही सर्व-प्रियता देखकर अँग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक में महात्मा गाँधी के अफ्रीकन सत्याग्रह का औपन्यासिक वर्णन् सर्वथा मौलिक ढँग से किया गया है। भाषा इतनी सुन्दर और सरल है, कि सातवीं-आठवीं क्लास के विद्यार्थी तक समझ सकते हैं। कई राष्ट्रीय विद्यालयों में यह पुस्तक प्राइज़-बुक स्वीकृत हुई है। मू० १)

२२—फूलदान

चुनी हुई उर्दू-कविताओं का संग्रह। मूल्य ॥=) आना।

साहित्य-मण्डल-माला

के

स्थाई ग्राहक बनने के नियम

++++

१—स्थाई ग्राहक बनने की प्रवेश फ़ी १) है, जो वापस नहीं की जाती।

२—स्थायी ग्राहकों को मण्डल से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक (कोर्स की पुस्तकों को छोड़कर) दो-तिहाई मूल्य में दी जाती हैं।

३—स्थायी ग्राहकों को मण्डल से प्रकाशित होने-वाली कम-से-कम आधी पुस्तकें अवश्य लेनी पड़ती हैं।

४—नई पुस्तकें भेजने के १५ दिन पूर्व ग्राहकों को सूचना की जाती है। कोई उत्तर न मिलने पर पुस्तकें कमीशन काटकर वी० पी० द्वारा भेज दी जाती हैं।

५—स्थायी ग्राहकों को हमारी एजेन्सियों या हमारे ट्रेवलिंग-एजेण्टों से दो-तिहाई मूल्य में पुस्तकें पाने का अधिकार नहीं है; क्योंकि कमीशन की सुविधा केवल पोस्टेज-व्यय बढ़ जाने के कारण ही दी गई है।